वक्तव्य ।

पाठक महोदय आप इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटो देख रहे हैं, वे हैं अजिमगंज (मुर्शिदाबाद)-निवासी बाबू डालचन्दजी सिंघी । इस समय पूर्ण सामग्री न होने से मैं आप के जीवन का कुछ विशेष परिचय कराने में असमर्थ हूँ । इस के लिये फिर कभी अवसर पा कर प्रयत्न करने की इच्छा है ।

आप कलकत्ते के भी एक प्रसिद्ध रईस हैं और वहाँ के बड़े २ धनाढ्य व्यापारियों में आप की गणना है । पर इतने ही मात्र से मैं आप की ओर आकर्षित नहीं हुआ हूँ; किन्तु आप में दो गुण ऐसे हैं कि जो पुण्य-उदय के चिन्ह हैं और जिन का संपत्ति के साथ संयोग होना सब में सुलभ नहीं है । यही आप की एक खास विशेषता है जो मुझे अपनी ओर आकर्षित कर रही है । यथार्थ गुण को प्रगट करना गुणानुरागिता है, जो सच्चे जैन का लक्षण है । उक्त दो गुणों में से पहिला गुण 'उदारता' है । उदारता भी केवल आर्थिक नहीं, ऐसी उदारता तो अनेकों में देखी जाती है । पर जो उदारता धनवानों में भी बहुत कम देखी जाती है, वह विचार की उदारता आप में है । इसी से आप एक दृढतर जैन हैं और अपने संप्रदाय में स्थिर होते हुए सब के विचारों को समभाव-पूर्वक सुनते हैं तथा उन का यथोचित

आदर करते हैं। इसी उदारता की बदौलत आप जैन-शास्त्रों की तरह जैनेतर-शास्त्रों को भी सुनते हैं। और उन को नय-दृष्टि से समझ कर सत्य को ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहते हैं। इसी समभाव के कारण आप की रुचि 'योगदर्शन' आदि ग्रन्थों की ओर सविशेष रहती है। विचार की उदारता या परमत-सहिष्णुता, एक ऐसा गुण है, जो कहीं से भी सत्य ग्रहण करा देता है। दूसरा गुण आप में 'धर्म-निष्ठा' का है। आप ज्ञान तथा क्रिया दोनों मार्गों को, दो आँखों की तरह, बराबर समझने वाले हैं। केवल ज्ञान रुचि या केवल क्रिया-रुचि तो बहुतों में पाई जाती है। परन्तु ज्ञान और क्रिया, दोनों की रुचि विरलों में ही देखी जाती है।

जैन-समाज, इतर-समाजों के मुकाबिले में बहुत छोटा है। परन्तु वह व्यापारी-समाज है। इस लिये जैन लोग हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश के हर एक भाग में थोड़े बहुत प्रमाण में फैले हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि योरोप, आफ्रिका आदि देशान्तरों में भी उन की गति है। परन्तु खेद की बात है कि उचित प्रमाण में उच्च शिक्षा न होने से, कान्फ़्रेंस जैसी सब का आपस में मेल तथा परिचय कराने वाली सर्वोपयोगी संस्था में उपस्थित हो कर भाग लेने की रुचि कम होने से तथा तीर्थ-भ्रमण का यथार्थ उपयोग करने की कुशलता कम होने से, एक प्रान्त के जैन, दूसरे प्रान्त के अपने प्रतिष्ठित साधर्मिक बन्धु तक को बहुत कम जानते-पहिचानते हैं।

इस के सबूत में सेठ खेतसी खीसी जैसे प्रसिद्ध गृहस्थ का कथन ज़रा ध्यान खींचने वाला है। उन्हों ने कलकत्ते में आकर कान्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से अपने बड़े २ प्रतिष्ठित सार्धर्मिक बन्धुओं की मुलाकात करते समय यह कहा था कि "मुझे अभी तक यह मालूम ही न था कि अपने जैन-समाज में 'राजा' का खिताब धारण करने वाले भी लोग हैं।" यह एक अज्ञान है। इस अज्ञान से अपने समाज के विषय में बहुत छोटी भावना रहती है। इस छोटी भावना से हरेक काम करने में आशा तथा उत्साह नहीं बढते। यह अनुभव की बात है कि जब हम अपने समाज में अनेक विद्वान्, श्रीमान् तथा अधिकारी लोगों को देखते व सुनते हैं, तब हमारा हृदय उत्साहमय हो जाता है। इसी आशय से मेरा यह विचार रहता है कि कम से कम 'मण्डल' की ओर से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में तो किसी-न-किसी योग्य मुनिराज, विद्वान् या श्रीमान् का फोटो दिया ही जाय और उन का संक्षिप्त परिचय भी। जिस से कि पुस्तक के प्रचार के साथ २ समाज को ऐसे योग्य व्यक्ति का परिचय भी हो जाय। तदनुसार मेरी दृष्टि उक्त बाबूजी की ओर गई। और मैं ने श्रीमान् बाहादुरसिंहजी से, जो कि उक्त बाबूजी के सुपुत्र हैं, इस बात के लिये प्रस्ताव किया। उन्हों ने मेरी बात मान कर अपने पिता का फोटो देना मंजूर किया। एतदर्थ मैं उन का कृतज्ञ हूँ।

चाहे पुनरुक्ति हो, पर मैं उक्त बाबूजी की उदारता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। दूसरे श्रीमानों का भी

इस गुण का अनुकरण करना चाहिए। बाबूजी ने मुझ से अपनी यह सदिच्छा प्रगट की कि यह हिन्दी-अर्थ-सहित 'देवसिअ्राइ प्रतिक्रमण' तथा 'पञ्च प्रतिक्रमण' हमारी ओर से सब पाठकों के लिये निर्मूल्य सुलभ कर दिया जाय। उन्हों ने इन दोनों पुस्तकों का सारा खर्च देने की उदारता दिखाई और यह भी इच्छा प्रदर्शित की कि खर्च की परवाह न करके कागज़, छपाई, जिल्द आदि से पुस्तक को रोचक बनाने का शक्तिभर प्रयत्न किया जाय। मैं ने भी बाबूजी की बात को लाभदायक समझ कर मान लिया। तदनुसार यह पुस्तक पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित की जाती है।

जैन-समाज में प्रतिक्रमण एक ऐसी महत्त्व की वस्तु है, जैसे कि वैदिक-समाज में सन्ध्या व गायत्री। मारवाड़, मेवाड़, मालवा, मध्यप्रान्त, युक्तप्रान्त, पंजाब, बिहार, बंगाल आदि अनेक भागों के जैन प्रायः हिन्दी-भाषा बोलने, लिखने तथा समझने वाले हैं। गुजरात, दक्षिण आदि में भी हिन्दी-भाषा की सर्व-प्रियता है। तो भी हिन्दी-अर्थ-सहित प्रतिक्रमण आज तक ऐसा कहीं से प्रगट नहीं हुआ था, जैसा कि चाहिए। इस लिये 'मण्डल' ने इसे तैयार कराने की चेष्टा की। पुस्तक करीब दो साल से छपाने के लायक तैयार भी हो गई थी, परन्तु प्रेस की असुविधा, कार्यकर्ताओं की कमी, मनमानी कागज़ आदि की अनुपलब्धि आदि अनेक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण प्रकाशित होने में इतना आशातीत विलम्ब हो गया है। जब तक घर में अनाज न आ जाय, तब तक किसान का परिश्रम आशा के गर्भ में छिपा रहता है। पुस्तक-प्रकाशक-संस्थाओं का भी यही हाल है।

अपने मित्रों की राम-कहानी सुनाना, कागज़ और स्याही को खराब करना तथा समय को बरबाद करना है। मुझे तो इसी में खुशी है कि चाहे देरी से या जल्दी से, पर अब, यह पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित की जाती है। उक्त बाबू साहब की इच्छा के अनुसार, जहाँ तक हो सका है, इस पुस्तक के बाह्य आवरण अर्थात् कागज़, छपाई, स्याही, जिल्द आदि की चारुता के लिये प्रयत्न किया गया है। खर्च में भी किसी प्रकार की कोताही नहीं की गई है। यहाँ तक कि पहिले छपे हुए दो फर्मे, कुछ कम पसन्द आने के कारण रद्द कर दिये गये। तो भी, यह नहीं कहा जा सकता कि यह पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण तथा त्रुटियों से बिल्कुल मुक्त है। कहा इतना ही जा सकता है कि त्रुटियों को दूर करने की ओर यथासंभव ध्यान दिया गया है। प्रत्येक बात की पूर्णता क्रमशः होती है। इस लिये आशा है कि जो जो त्रुटियाँ रह गई होंगी, वे बहुधा अगले संस्करण में दूर हो जायँगी।

साहित्य-प्रकाशन का कार्य कठिन है। इस में विद्वान् तथा श्रीमान्, सब की मदत चाहिए। यह 'मण्डल' पारमार्थिक संस्था है। इस लिये यह सभी धर्म-रुचि तथा साहित्य-प्रेमी विद्वानों व श्रीमानों से निवेदन करता है कि वे उस के साहित्य-प्रकाश में यथासंभव सहयोग देते रहें। और धर्म के साथ-साथ अपने नाम को चिरस्थायी करें।

मन्त्री—

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,

रोशनमुहल्ला, आगरा।

प्रमाण रूप से आये हुए ग्रन्थों के नामः—

समवायाङ्ग।	आवश्यक-निर्युक्ति।
चैत्यवन्दन-भाष्य।	पञ्चाशक।
दशवैकालिक-निर्युक्ति।	आचाराङ्ग नन्दि-वृत्ति।
विशेषावश्यक-भाष्य।	वृहत्संग्रहणी।
ललितविस्तरा।	योगदर्शन।
गुरुवन्दन-भाष्य।	धर्मसंग्रह।
योनिस्तव।	उपासकदशा।
श्राद्ध-प्रतिक्रमण।	भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति।
भगवतीशतक।	अन्तकृत्।
ज्ञाता धर्मकथा।	उत्तराध्ययन।
सूत्रकृताङ्ग।	देववन्दन-भाष्य।

जीव और पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप।

(१)प्रश्न–परमेष्ठी क्या वस्तु है?

उत्तर–वह जीव है।

(२)प्र०–क्या सभी जीव परमेष्ठी कहलाते हैं?

उ०–नहीं।

(३)प्र०–तब कौन कहलाते हैं?

उ०–जो जीव 'परमे' अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप में–समभाव में 'ष्ठिन्' अर्थात् स्थित हैं वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं।

(४)प्र०–परमेष्ठी और उन से भिन्न जीवों में क्या अन्तर है?

उ०–अन्तर, आध्यात्मिक-विकास होने न होने का है। अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकास वाले व निर्मल आत्मशक्ति वाले हैं, वे परमेष्ठी और जो मलिन आत्मशक्ति वाले हैं वे उन से भिन्न हैं।

(५)प्र०–जो इस समय परमेष्ठी नहीं हैं, क्या वे भी साधनों के द्वारा आत्मा को निर्मल बना कर वैसे बन सकते हैं?

उ०–अवश्य।

(६)प्र०—तब तो जो परमेष्ठी नहीं हैं और जो हैं उन में शक्ति की अपेक्षा से क्या अन्तर हुआ?

उ०—कुछ भी नहीं। अन्तर सिर्फ शक्तियों के प्रकट होने न होने का है। एक में आत्म-शक्तियों का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरों में नहीं।

(७)प्र०—जब असलियत में सब जीव समान ही हैं तब उन सब का सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है?

उ०—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुणों का न होना और चेतना का होना, यह सब जीवों का सामान्य लक्षण§ है।

(८)प्र०—उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय-इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकने वाला है; फिर उस के द्वारा जीवों की पहिचान कैसे हो सकती है?

---

§"अरसमरूवमगंध, अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥"

[प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गाथा ८०।]

अर्थात्—जो रस, रूप, गन्ध और शब्द से रहित है, जो अव्यक्त—स्पर्शरहित—है, अत एव जो लिङ्गों—इन्द्रियों—से अग्राह्य है, जिस के कोई संस्थान—आकृति नहीं है और जिस में चेतना शक्ति है, उस को जीव जानना चाहिए।

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय हैं इस लिये उन का लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए, क्यों कि लक्षण लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। जब लक्ष्य अर्थात् जीव इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते, तब उन का लक्षण इन्द्रियों से न जाना जा सके, यह स्वाभाविक ही है।

(६)प्र०—जीव तो आँख आदि इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े आदि जीवों को देख कर व छू कर हम जान सकते हैं कि यह कोई जीवधारी है। तथा किसी की आकृति आदि देख कर या भाषा सुन कर हम यह भी जान सकते हैं कि अमुक जीव सुखी, दुःखी, मूढ, विद्वान्, प्रसन्न या नाराज है। फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय है। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव, पुद्गल-सापेक्ष

होने के कारण इन्द्रियग्राह्य है । इस लिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए।

(१०)प्र०--अगर विभाव का संबन्ध जीव से है तो उस को ले कर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए ?

उ०-किया ही है । पर वह लक्षण सब जीवों का नहीं होगा, सिर्फ संसारी जीवों का होगा। जैसे जिन में सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भाव हों या जो *कर्म के कर्त्ता और कर्म-फल के भोक्ता और शरीरधारी हों वे जीव हैं।

(११)प्र०--उक्त दोनों लक्षणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइए।

उ०-प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इस लिये उस को निश्चयनय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिए। दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इस लिये

---

*"यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥"

अर्थात्-जो कर्मों का करने वाला है, उन के फल का भोगने वाला है संसार में भ्रमण करता है और मोक्ष को भी पा सकता है, वही जीव है उस का अन्य लक्षण नहीं है।

उस को व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए । सारांश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अत एव तीनों काल में घटने वाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अत एव तीनों काल में नहीं घटने वाला× है । अर्थात् संसार दशा में पाया जाने वाला और मोक्ष दशा में नहीं पाया जाने वाला है ।

(१२)प्र०--उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन में किये गये हैं, क्या वैसे जैनेतर-दर्शनों में भी हैं ?

× "अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ।"

[प्रवचनसार, अमृतचन्द्र-कृत टीका, गाथा ५३ ।]

सारांश–जीवत्व निश्चय और व्यवहार इस तरह दो प्रकार का है । निश्चय जीवत्व अनन्त-ज्ञान-शक्तिस्वरूप होने से त्रिकाल-स्थायी है और व्यवहार-जीवत्व पौद्गलिक-प्राणसंसर्गरूप होने से संसारावस्था तक ही रहने वाला है ।

उ०—हाँ, §साङ्ख्य, ‡योग, †वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को चेतनरूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है सो निश्चय नय ÷ की अपेक्षा से, और +न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के लक्षण बतलाये हैं सो व्यवहार ÷नय की अपेक्षा से।

---

§ "पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः।" [मुक्तावलि पृ० २६।]

अर्थात्—आत्मा कमलपत्र के समान निर्लेप किन्तु चेतन है।

‡ "तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चिति मात्ररूपः पुरुषः" [पातञ्जलसूत्र, पाद ३, सूत्र ३५ भाष्य।]

अर्थात्—पुरुष—आत्मा—चिन्मात्ररूप है और परिणामी चित्सत्त्व से अत्यन्त विलक्षण तथा विशुद्ध है।

† "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृहदारण्यक ३। ९। २८।]

अर्थात्—ब्रह्म—आत्मा—आनन्द तथा ज्ञानरूप है।

+ "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।" [न्यायदर्शन १।१।१०।]

अर्थात्—१ इच्छा, २ द्वेष, ३ प्रयत्न, ४ सुख, ५ दुःख और ६ ज्ञान, ये आत्मा के लक्षण हैं।

÷ "निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।" [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५।]

अर्थात्—तात्त्विक-दृष्टि को निश्चय-दृष्टि और उपचार-दृष्टि को व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

(१३)प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनों शब्दों का मतलब एक है ?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र में तो संसारी-असंसारी सभी चेतनों के विषय में 'जीव और आत्मा,' इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त§ आदि दर्शनों में जीव का मतलब संसार-अवस्था वाले ही चेतन से है, मुक्तचेतन से नहीं, और आत्मा* शब्द तो साधारण है।

(१४)प्र०—आप ने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानों को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नहीं कहे जा सकने योग्य है, सो इस में सत्य क्या है ?

उ०—उन का भी कथन युक्त है क्यों कि शब्दों के द्वारा परिमित भाव ही प्रगट किया जा सकता है। यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जानना हो तो वह

---

§ "जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता।"
[ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृ० १०६, अ० १ पा० १, अ० ५, सू० ६ भाष्य।]
अर्थात्–जीव वह चेतन है जो शरीर का स्वामी है और प्राणों का धारण करने वाला है।

* जैसे–"आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिक [बृहदारण्यक ।२।४।५।]

अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नहीं बताया जा सकता। इस लिये इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय* है। इस बात को जैसे अन्य दर्शनों में "निर्विकल्प"‡ शब्द से या "नेतिनेति"§ शब्द से कहा है वैसे ही जैनदर्शन

---

* 'यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसा गतिः ।
शुद्धानुभवसंवेद्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥' द्वितीय, श्लोक ४ ॥

‡ 'निरालम्बं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम् ।
आत्मनः परमं ज्योति–र्निरुपाधि निरञ्जनम् ॥" प्रथम, ३ ॥

"धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ॥" द्वि०, ८ ॥

"शब्दोपरक्ततद्रूप,–बोधकृन्नयपद्धतिः ।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं–गम्यं नानुभवं विना ॥" द्वि०, ६ ॥

"अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तस्य रूपं कथञ्चन ॥ द्वि०, १६ ॥

[श्रीयशोविजय उपाध्याय कृत परमज्योति पञ्चविंशतिका]

"अप्राप्यैव निवर्तन्ते, वचो धीभिः सहैव तु ।
निर्गुणत्वात् क्रियाभावा,–द्विशेषाणामभावतः ॥"
[श्रीशङ्कराचार्यकृत–उपदेशसाहस्री नान्यदन्यत्प्रकरण श्लो० ३१ ।]

अर्थात्–शुद्ध जीव निर्गुण अक्रिय और अविशेष होने से न बुद्धिग्राह्य है और न वचन-प्रतिपाद्य है ।

§ 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।" [बृहदारण्यक, अध्याय ४, ब्राह्मण २, सूत्र ४ ।]

में "सरा तत्थ निवत्तंते तक्का तत्थ न विज्जई" [आचाराङ्ग० ५–६ ।] इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्धद्रव्यार्थिक नय से समझना चाहिए। और हम ने जो जीव का चेतना या अमूर्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्धपर्यायार्थिक नय से।

(१५)प्र०—कुछ तो जीव का स्वरूप ध्यान में आया, अब यह कहिये कि वह किन तत्त्वों का बना है?

उ०—वह स्वय अनादि स्वतन्त्र तत्त्व है, अन्य तत्त्वों से नहीं बना है।

(१६)प्र०—सुनने व पढ़ने में आता* है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणों का परिणाम है, वह कोई स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इस में क्या सत्य है?

उ०—जो सूक्ष्म विचार नहीं करते, जिन का मन विशुद्ध नहीं होता और जो भ्रान्त हैं, वे ऐसा कहते हैं। पर उन का ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है।

---

* देखो-चार्वाकदर्शन [सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १] तथा आधुनिक भौतिकवादी 'हेक्ल' आदि विद्वानों के विचार प्रो० ध्रुवरचित [आपणो धर्म पृष्ट ३०५ से आगे।]

(१७)प्र०—भ्रान्तिमूलक क्यों ?

उ०—इस लिये कि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आदि वृत्तियाँ, जो मन से सम्बन्ध रखती हैं; वे स्थूल या सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं के आलम्बन से होती हैं, भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियों के होने में साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण† हैं, उपादानकारण§ नहीं। उन का उपादानकारण आत्मा तत्त्व अलग ही है। इस लिये भौतिक वस्तुओं को उक्त वृत्तियों का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है।

(१८)प्र०—ऐसा क्यों माना जाय ?

उ०—ऐसा न मानने में अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख,दुःख, राज-रंक भाव, छोटी-बड़ी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में पाये जाते हैं, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व विना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नहीं सकता।

---

† जो कार्य से भिन्न हो कर उस का कारण बनता है वह निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का निमित्तकारण पुतलीघर।

§ जो स्वयं ही कार्यरूप में परिणत होता है वह उस कार्य का उपादान-कारण कहलाता है। जैसे कपड़े का उपादानकारण सूत।

(१९)प्र०—इस समय विज्ञान प्रबल प्रमाण समझा जाता है इस लिये यह बतलाइये कि क्या कोई ऐसे भी वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान के आधार पर जीव को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हों ?

उ०—हाँ, उदाहरणार्थ* सर 'ओलीवरलाज' जो यूरोप के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं और कलकत्ते के 'जगदीशचन्द्र वसु, जो कि संसार भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उन के प्रयोग व कथनों से स्वतन्त्र चेतन तत्त्व तथा पुनर्जन्म आदि की सिद्धि में सन्देह नहीं रहता। अमेरिका आदि में और भी ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जिन्होंने परलोकगत आत्माओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानने लायक खोज§ की है।

(२०)प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय में अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए ?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करनेवाले निःस्वार्थ ऋषियों के वचन पर, तथा स्वानुभव पर।

(२१)प्र०—ऐसा अनुभव किस तरह प्राप्त हो सकता है ?

उ०—चित्त को शुद्ध कर के एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से।

---

* देखो—आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगरा द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रथम "कर्मग्रन्थ" की प्रस्तावना पृ० ३८॥

§ देखो-हिन्दीग्रन्थरत्नाकरकार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'छायादर्शन'

(२२)प्र०–जीव तथा परमेष्ठी का सामान्य स्वरूप तो कुछ सुन लिया। अब कहिये कि क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के हैं या उन में कुछ अन्तर भी है ?

उ०–सब एक प्रकार के नहीं होते। स्थूल दृष्टि से उन के पाँच प्रकार हैं अर्थात् उन में आपस में कुछ अन्तर होता है।

(२३)प्र०–वे पाँच प्रकार कौन हैं ? और उन में अन्तर क्या है ?

उ०–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँच प्रकार हैं। स्थूलरूप से इन का अन्तर जानने के लिये इन के दो विभाग करने चाहिए। पहले विभाग में प्रथम दो और दूसरे विभाग में पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित हैं। क्यों कि अरिहन्त सिद्ध ये दो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियों को शुद्धरूप में पूरे तौर से विकसित किये हुए होते हैं। पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियों को पूर्णतया प्रकट किये हुए नहीं होते, किन्तु उन को प्रकट करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। अरिहन्त, सिद्ध ये दो ही केवल पूज्य-अवस्था को प्राप्त हैं, पूजक-अवस्था को नहीं। इसी से ये 'देव' तत्त्व माने जाते हैं। इस के विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनों अवस्थाओं को प्राप्त हैं। वे अपने से नीचे की श्रेणि वालों के पूज्य और ऊपर की श्रेणि वालों के पूजक हैं। इसी से ये 'गुरु' तत्त्व माने जाते हैं।

(२४)प्र०–अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस में क्या अन्तर है? इसी तरह आचार्य आदि तीनों का भी आपस में क्या अन्तर है?

उ०–सिद्ध शरीररहित अत एव पौद्गलिक सब पर्यायों से परे होते हैं। पर अरिहन्त ऐसे नहीं होते। उन के शरीर होता है, इस लिये मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी वे चलने, फिरने, बोलने आदि शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान-चारित्र आदि शक्तियों के विकास की पूर्णता अरिहन्त सिद्ध दोनों में बराबर होती है। पर सिद्ध, योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं, जो पहले अरिहन्त होते हैं वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते हैं। इसी तरह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में साधु के गुण सामान्य रीति से समान होने पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य में विशेषता होती है। वह यह कि उपाध्याय-पद के लिये सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान, पढ़ाने की शक्ति, वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है, पर साधुपद के लिये इन गुणों की कोई खास जरूरत नहीं है। इसी तरह आचार्यपद के लिये शासन चलाने की शक्ति, गच्छ के हिताहित की जवाबदेही, अतिगम्भीरता और देश-काल का विशेष

ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिये इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नहीं है। साधुपद के लिये जो सत्ताईस गुण जरूरी हैं वे तो आचार्य और उपाध्यान में भी होते हैं, पर इन के अलावा उपाध्याय में पच्चीस और आचार्य में छत्तीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्यायपद का महत्त्व अधिक, और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्त्व अधिक है।

(२५)प्र०–सिद्ध तो परोक्ष हैं, पर अरिहन्त शरीरधारी होने के कारण प्रत्यक्ष हैं। इस लिये यह जानना जरूरी है कि जैसे हम लोगों की अपेक्षा अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उन की बाह्य अवस्था में भी क्या हम से कुछ विशेषता हो जाती है?

उ०–अवश्य। भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण प्रकट हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास तक नहीं कर सकते। अरिहन्तका सारा व्यवहार लोकोत्तर* होताहै। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न २ जाति के जीव अरिहन्त

---

* "लोकोत्तरचमत्कार,—करी तव भवस्थितिः।
यतो नाहारनीहारौ, गोचरौ चर्मचक्षुषाम् ॥"
[वीतरागस्तोत्र द्वितीय प्रकाश, श्लोक ८।]

अर्थात्–[हे भगवन्!] तुम्हारी रहन-सहन आश्चर्यकारक अत एव लोकोत्तर है, क्या कि न तो आप का आहार देखने में आता और न नीहार (पाखाना)।

के उपदेश को अपनी २ भाषा† में समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म शत्रु प्राणी भी समवसरण में वैर (द्वेष) वृत्ति छोड़ कर* भ्रातृभाव धारण करते हैं। अरिहन्त के वचन में जो पैंतीस‡ गुण होते हैं वे औरों के वचन में नहीं होते। जहाँ अरिहन्त विराजमान होते हैं वहाँ मनुष्य आदि की कौन कहे, करोड़ों देव हाजिर होते, हाथ जोड़ खड़े रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों÷ की रचना करते हैं। यह सब अरिहन्त के परमयोग की विभूति॥ है।

---

† "तेषामेव स्वस्वभाषा, परिणाममनोहरम्।
अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत्॥"
[वीतरागस्तोत्र तृतीय प्रकाश, श्लोक ३।]

* "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"
[पातञ्जल-योगसूत्र ३५-६६।]

‡ देखो-'जैनतत्त्वादर्श' पृ० २।

÷ "अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥"

अर्थात्-१. अशोकवृक्ष, २.देवों द्वारा की गई फूलों की वर्षा, ३. दिव्य-ध्वनि, ४. देवों द्वारा चामरों का ढोरा जाना, ५. अधर सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. देवों द्वारा बजाई गई दुन्दुभि और ८. छत्र, ये जिनेश्वरों के आठ प्रातिहार्य हैं।

॥ देखो-'वीतरागस्तोत्र' एवं 'पातञ्जलयोगसूत्र का विभूतिपाद।'

(२६)प्र०—अरिहन्त के निकट देवों का आना, उन के द्वारा समवसरण का रचा जाना, जन्म-शत्रु जन्तुओं का आपस में वैर-विरोध त्याग कर समवसरण में उपस्थित होना, चौंतीस अतिशयों का होना, इत्यादि जो अरिहन्त की विभूति कही जाती है, उस पर यकायक विश्वास कैसे करना ?—ऐसा मानने में क्या युक्ति है ?

उ०—अपने को जो बातें असम्भव सी मालूम होती हैं वे परमयोगियों के लिये साधारण है। एक जंगली भील को चक्रवर्ती की सम्पत्ति का थोड़ा भी खयाल नहीं आ सकता। हमारी और योगियों की योग्यता में ही बड़ा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले, और अस्थिरता के केन्द्र है। इस के विपरीत योगियों के सामने विषयों का आकर्षण कोई चीज नहीं; लालच उन को छूता तक नहीं; वे स्थिरता में सुमेरु के समान होते हैं। हम थोड़ी देर के लिये भी मन को सर्वथा स्थिर नहीं रख सकते; किसी के कठोर वाक्य को सुन कर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं; मामूली चीज़ गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं; स्वार्थान्धता से औरों की कौन कहे भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम योगी इन सब दोषों से सर्वथा अलग

होते हैं। जब उन की आन्तारिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने में कोई अचरज नहीं। साधारण योगसमाधि करने वाले महात्माओं की और उच्च चारित्र वाले साधारण लोगों का भी माहिमा जितनी देखी जाती है उस पर विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति में सन्देह नहीं रहता।

(२७)प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनों दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस २ प्रकार का है ?

उ०—उक्त दोनों दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। उन के लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्यों कि सिद्ध अवस्था में निश्चय व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। अरिहन्त सशरीर होते हैं इस लिये उन का व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से सम्बन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तारिक शक्तियों के विकास से। इस लिये निश्चय दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

(२८)प्र०—उक्त दोनों दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस २ प्रकार का है ?

उ०—निश्चय दृष्टि से तीनों का स्वरूप एक सा होता है। तीनों में मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता, और

बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्चयिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सब से अधिक होती है। क्यों कि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैनशासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पड़ती है। उपाध्याय को आचार्यपद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते हैं जो सामान्य साधुओं में नहीं भी होते।

(२९)प्र०—परमेष्ठियों का विचार तो हुआ। अब यह बतलाइये कि उन को नमस्कार किस लिये किया जाता है?

उ०—गुणप्राप्ति के लिये। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है क्यों कि जैसा ध्येय हो ध्याता वैसा ही बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करने वाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नहीं बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करने वाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है।

(३०)प्र०—नमस्कार क्या चीज़ है?

उ०—बड़ों के प्रति ऐसा वर्त्ताव करना कि जिस से उन के प्रति अपनी लघुता तथा उन का बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है।

(३१)प्र०—क्या सब अवस्था में नमस्कार का स्वरूप एक सा ही होता है ?

उ०- नहीं । इस के द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं । विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार में ऐसा भाव हो कि मैं उपासना करने वाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैत-नमस्कार है । राग-द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिस में आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है ।

(३२)प्र०—उक्त दोनों में से कौन सा नमस्कार श्रेष्ठ है ?

उ०—अद्वैत। क्यों कि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधन-मात्र है ।

(३३)प्र०—मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति, किसी अन्तरङ्ग भाव से प्रेरी हुई होती है। तो फिर इस नमस्कार का प्रेरक, मनुष्य का अन्तरङ्ग भाव क्या है ?

उ०—भक्ति ।

(३४)प्र०—उस के कितने भेद हैं ?

उ०—दो। एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योगि-भक्ति । सिद्धों के अनन्त गुणों की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियों (मुनियों) के गुणों की भावना भाना योगि-भक्ति ।

(३५)प्र०—पहिले अरिहन्तों को और पीछे सिद्धादिकों को नमस्कार करने का क्या सबब है ?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते हैं। एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी। प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है। पाँचों परमेष्ठियों में 'सिद्ध' सब से प्रधान हैं और 'साधु' सब से अप्रधान, क्यों कि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद है और साधु-अवस्था उस के साधन करने की प्रथम भूमिका है। इस लिये यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से नमस्कार किया गया है।

(३६)प्र०—अगर पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार पूर्वानुपूर्वी क्रम से किया गया है तो पहिले सिद्धों को नमस्कार किया जाना चाहिए, अरिहन्तों को कैसे ?

उ०—यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से 'सिद्ध' श्रेष्ठ हैं। तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं और व्यवहार की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं। क्यों कि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलाने वाले 'अरिहन्त' ही तो हैं। इस लिये व्यवहार-अपेक्षया 'अरिहन्तों' को श्रेष्ठ गिन कर पहिले उन को नमस्कार किया गया है।

परिशिष्ट ।

स्तव आदि विशेष पाठ ।

विधियाँ ।

॥ ॐ ॥

प्रतिक्रमणसूत्र ।

(अर्थ-सहित)

१—नमस्कार सूत्र ।

* नमो अरिहंताणं । नमो सिद्धाणं । नमो आयरियाणं । नमो उवज्झायाणं । नमो लोए सव्वसाहूणं ।

अन्वयार्थ—'अरिहंताणं' अरिहंतों को 'नमो' नमस्कार, 'सिद्धाणं' सिद्धों को 'नमो' नमस्कार, 'आयरियाणं' आचार्यों को 'नमो' नमस्कार, 'उवज्झायाणं' उपाध्यायों को 'नमो' नमस्कार [और] 'लोए' लोक में—ढाई द्वीप में [वर्तमान] 'सव्वसाहूणं' सब साधुओं को 'नमो' नमस्कार ।

---

* नमोऽर्हद्भ्यः । नमः सिद्धेभ्यः । नमः आचार्येभ्यः । नम उपाध्यायेभ्यः । नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ।

‡ एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—' एसो ' यह ' पंचनमुक्कारो ' पाँचों को किया हुआ नमस्कार ' सव्वपावप्पणासणो ' सब पापों का नाश करने वाला ' च ' और ' सव्वेसिं ' सब ' मंगलाणं ' मंगलों में ' पढमं ' पहला—मुख्य ' मंगलं ' मंगल ' हवइ ' है ॥१॥

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान्, श्री सिद्ध भगवान्, श्री आचार्य महाराज, श्री उपाध्यायजी, और ढाई द्वीप में वर्तमान सामान्य सब साधु मुनिराज—इन पांच परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो। उक्त पांच परमेष्ठियों को जो नमस्कार किया जाता है वह सम्पूर्ण पापों को नाशकरने वाला और सब प्रकार के-लौकिकलोकोत्तर-मंगलों में प्रधान मंगल है ।

२—पंचिंदिय सूत्र ।

* पंचिंदियसंवरणो, तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो ।
चउविहकसायमुक्को, इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—' पंचिंदियसंवरणो ' पाँच इन्द्रियों का संवरण-निग्रह करने वाला, ' तह ' तथा ' नवविहबंभचेरगुत्तिधरो '

---

‡ एष पञ्चनमस्कारस्सर्वपापप्रणाशनः ।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥ १ ॥

* पञ्चेन्द्रियसंवरणस्तथा नवविधब्रह्मचर्यगुप्तिधरः ।
चतुर्विधकषायमुक्त इत्यष्टादशगुणैस्संयुक्तः ॥ १ ॥

नँव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करने वाला, 'चउविहकसायमुक्को' चार प्रकार के कषाय से मुक्त 'इय' इस प्रकार 'अट्ठारसगुणेहिं' अठारह गुणों से 'सञ्जुत्तो' संयुक्त॥ १ ॥

‡ पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'पंचमहव्वयजुत्तो' पांच महाव्रतों से युक्त 'पंचविहायारपालणसमत्थो' पांच प्रकार के आचार को पालन करने में समर्थ, 'पंचसमिओ' पांच समितियों से युक्त, 'तिगुत्तो' तीन गुप्तियों से युक्त [इस तरह कुल] 'छत्तीसगुणो' छत्तीस गुणयुक्त 'मज्झ' मेरा 'गुरू' गुरु है ॥ २ ॥

भावार्थ—त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान इन पाँच इन्द्रियों के विकारों को रोकने से पाँच; ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों के धारण करने से नव; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को त्यागने से चार; ये अठारह तथा प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण और परिग्रह-विरमण इन पांच महाव्रतों के पांच; ज्ञानाचार, दर्शना-

---

‡ पञ्चमहाव्रतयुक्तः पञ्चविधाचारपालनसमर्थः ।
पञ्चसमितः त्रिगुप्तः षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥ २ ॥

१–ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ–रक्षा के उपाय–ये हैं:—(१) स्त्री, पशु या नपुंसक के संसर्ग वाले आसन, शयन, गृह आदि सेवन न करना, (२) स्त्री के साथ रागपूर्वक बातचीत न करना, (३) स्त्री-समुदाय

चार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों के पालने से पाँच; चलने में, बोलने में, अन्नपान आदि की गवेषणा में, किसी चीज के रखने-उठाने में और मल-सूत्र आदि के परिष्ठापन में (परठवने में) समिति से—विवेक-पूर्वक प्रवृत्ति करने से पांच; मन, वचन और शरीर का गोपन करने से—उनकी असत् प्रवृत्ति को रोक देनेसे तीन; ये अठारह सब मिला कर छत्तीस गुण जिस में हों उसी को मैं गुरु मानता हूँ ॥ १–२ ॥

३—खमासमण सूत्र ।

* इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, मत्थएण वंदामि ।

अन्वयार्थ—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण-क्षमाशील तपस्विन् ! 'निसीहिआए' सर्व पाप–कार्यों को निषेध करके, [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना

में निवास न करना, (४) स्त्री के अङ्गोपाङ्ग का अवलोकन तथा चिन्तन न करना, (५) रस-पूर्ण भोजन का त्याग करना, (६) अधिक मात्रा में भोजन–पानी ग्रहण न करना, (७) पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा को याद न करना, (८) उद्दीपक शब्दादि विषयों को न भोगना, (९) पौद्गलिक सुख में रत न होना; [समवायाङ्ग सूत्र ९ पृष्ठ १५]। उक्त गुप्तियाँ जैन सम्प्रदाय में 'ब्रह्मचर्य की वाड' इस नाम से प्रसिद्ध हे।

* इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे ।

'इच्छामि' चाहता हूँ [और] 'मत्थएण' मस्तक से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ।

भावार्थ—हे क्षमाशील गुरो! मैं अन्य सब कामों को छोड़ कर शक्ति के अनुसार आपकी वन्दना करना चाहता हूँ और उसके अनुसार सिर झुका कर वन्दन करता हूँ।

४—सुगुरु को सुखशान्तिपृच्छा।

इच्छकारी सुहराइ सुहदेवसि सुखतप शरीरनिराबाध सुखसंजमयात्रा निर्वहते हो जी। स्वामिन्! शान्ति है? आहार पानी का लाभ देना जी।

भावार्थ—मैं समझता हूँ कि आपकी रात सुखपूर्वक बीती होगी, दिन भी सुखपूर्वक बीता होगा, आप की तपश्चर्य्या सुखपूर्वक पूर्ण हुई होगी, आपके शरीर को किसी तरह की बाधा न हुई होगी और इससे आप संयमयात्रा का अच्छी तरह निर्वाह करते होंगे। हे स्वामिन्! कुशल है? अब मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप आहार-पानी लेकर मुझको धर्म लाभ देवें।

५—इरियावहियं सूत्र।

* इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिकमामि। इच्छं।

---

* इच्छाकारेण संदिशथ भगवन्! ईर्यापथिकां प्रतिक्रमामि। इच्छामि।

अन्वयार्थ—'भगवन्' हे गुरु महाराज! 'इच्छाकारेण' इच्छा से—इच्छापूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिये [जिससे मैं] 'इरियावहियं' ईर्यापथिकी क्रिया का 'पडिक्कमामि' प्रतिक्रमण करूँ। 'इच्छं' आज्ञा प्रमाण है।

‡ इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए। गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा-संकमणे जे मे जीवा विराहिया—एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥

अन्वयार्थ—'इरियावहियाए' ईर्यापथ-सम्बन्धिनी—रास्ते पर चलने आदि से होने वाली 'विराहणाए' विराधना से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना—हटना व बचना 'इच्छामि' चाहता हूँ [तथा] 'मे' मैंने 'गमणागमणे' जाने आने में 'पाणक्कमणे' किसी प्राणी को दबा कर 'बीयक्कमणे' बीज को दबाकर 'हरियक्कमणे' वनस्पति को दबाकर [या]

‡ इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिक्या विराधनायाः। गमनागमने, प्राणाक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्गपनकोदक-मृत्तिकामर्कटसंतानसंक्रमणे ये मया जीवा विराधिताः—एकेन्द्रियाः

'ओसा' ओस 'उत्तिंग' चींटी के बिल 'पणग' पाँच रंग की काई 'दग' पानी 'मट्टी' मिट्टी और 'मकडा-सताणा' मकड़ी के जालों को 'संकमणे' खूँद व कुचल कर 'जे' जिस किसी प्रकार के—'एगिंदिया' एक इन्द्रियवाले 'बेइंदिया' दो इन्द्रियवाले 'तेइंदिया' तीन इन्द्रियवाले 'चउरिंदिया' चार इन्द्रियवाले [या] 'पंचिंदिया' पाँच इन्द्रियवाले—'जीवा' जीवों को 'विराहिया' पीड़ित किया हो, 'अभिहया' चोट पहुँचाई हो, 'वत्तिया' धूल आदि से ढँका हो, 'लेसिया' आपस में अथवा जमीन पर मसला हो, 'संघाइया' इकट्ठा किया हो, 'संघट्टिया' छुआ हो, 'परियाविया' परिताप—कष्ट पहुँचाया हो, 'किलामिया' थकाया हो, 'उद्दविया' हैरान किया हो, 'ठाणाओ' एक जगह से 'ठाणं' दूसरी जगह 'संकामिया' रक्खा हो, [विशेष क्या, किसी तरह से उनको] 'जीवियाओ' जीवन से 'ववरोविया' छुड़ाया हो 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' निष्फल हो।

भावार्थ—रास्ते पर चलने-फिरने आदि से जो विराधना होती है उससे या उससे लगने वाले अतिचार से मैं निवृत्त

द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः, अभिहताः, वर्तिताः, श्लेषिताः, संघातिताः, संघट्टिताः, परितापिताः, क्लमिताः, अवद्राविताः, स्थानात् स्थानं संक्रमिताः, जीवितात् व्यपरोपितास्तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्।

होना चाहता हूँ अर्थात् आयंदा ऐसी विराधना न हो इस विषय में सावधानी रख कर उससे बचना चाहता हूँ।

जाते आते मैंने भूतकाल में किसी के इन्द्रिय आदि प्राणों को दबा कर, सचित्त बीज तथा हरी वनस्पति को कचर कर, ओस, चींटी के बिल, पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को रौंद कर किसी जीव की हिंसा की—जैसे एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, या पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को मैंने चोट पहुँचाई, उन्हें धूल आदि से ढाँका, जमीन पर या आपस में रगड़ा, इकट्ठा करके उनका ढेर किया, उन्हें क्लेशजनक रीति से छुआ, क्लेश पहुँचाया, थकाया. हैरान किया, एक जगह से दूसरी जगह उन्हें बुरी तरह रक्खा, इस प्रकार किसी भी तरह से उनका जीवन नष्ट किया उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो अर्थात् जानते अनजानते विराधना आदि से कषाय द्वारा मैंने जो पाप-कर्म बाँधा उसके लिये मैं हृदय से पछताता हूँ, जिससे कि कोमल परिणाम द्वारा पाप-कर्म नीरस हो जावे और मुझको उसका फल भोगना न पड़े।

६—तस्स उत्तरी सूत्र।

* तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं,
विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं

* तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन

कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ॥

अन्वयार्थ—'तस्स' उसको 'उत्तरीकरणेणं' श्रेष्ठ—उत्कृष्ट बनाने के निमित्त 'पायच्छित्तकरणेणं' प्रायश्चित्त—आलोचना करने के लिये 'विसोहीकरणेणं' विशेष शुद्धि करने के लिये 'विसल्लीकरणेणं' शल्य का त्याग करने के लिये और 'पावाणं' पाप 'कम्माणं' कर्मों का 'निग्घायणट्ठाए' नाश करने के लिये 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ।

भावार्थ—ईर्यापथिकी क्रिया से पाप-मल लगने के कारण आत्मा मलिन हुआ; इसकी शुद्धि मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' द्वारा की है। तथापि परिणाम पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुआ हो तो उसको अधिक निर्मल बनाने के निमित्त उस पर बार बार अच्छे संस्कार डालने चाहिये। इसके लिये प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के सिवाय नहीं हो सकता, इसलिये परिणाम-विशुद्धि आवश्यक है। परिणाम की विशुद्धता के लिये शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्यों का त्याग और अन्य सब पाप कर्मों का नाश काउस्सग्ग से ही हो सकता है- इसलिये मैं काउस्सग्ग करता हूँ।

पापाना कर्मणां निर्घातनार्थाय तिष्ठामि कायोत्सर्गम्।

१—शल्य तीन हैः—(१) माया (कपट), (२) निदान (फल-कामना), (३) मिथ्यात्व (कदाग्रह), समवायाङ्ग सू० ३ पृ० $\frac{८}{१}$।

होना चाहता हूँ अर्थात् आयंदा ऐसी विराधना न हो इस विषय में सावधानी रख कर उससे बचना चाहता हूँ ।

जाते आते मैंने भूतकाल में किसी के इन्द्रिय आदि प्राणों को दबा कर, सचित्त बीज तथा हरी वनस्पति को कचर कर, ओस, चींटी के बिल, पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को रौंद कर किसी जीव की हिंसा की—जैसे एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, या पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को मैंने चोट पहुँचाई, उन्हें धूल आदि से ढाँका, जमीन पर या आपस में रगड़ा, इकट्ठा करके उनका ढेर किया, उन्हें क्लेशजनक रीति से छुआ, क्लेश पहुँचाया, थकाया, हैरान किया, एक जगह से दूसरी जगह उन्हें बुरी तरह रक्खा, इस प्रकार किसी भी तरह से उनका जीवन नष्ट किया उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो अर्थात् जानते अनजानते विराधना आदि से कषाय द्वारा मैंने जो पाप-कर्म बाँधा उसके लिये मैं हृदय से पछताता हूँ, जिससे कि कोमल परिणाम द्वारा पाप-कर्म नीरस हो जावे और मुझको उसका फल भोगना न पड़े।

६—तस्स उत्तरी सूत्र ।

* तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं,
विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं

---

* तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन ।

अन्वयार्थ—'लोगस्स' लोक में 'उज्जोअगरे' उद्योत-प्रकाश करने वाले, 'धम्मतित्थयरे' धर्मरूप तीर्थ को स्थापन करने वाले, 'जिणे' राग-द्वेष जीतने वाले, 'चउवीसंपि' चौवीसों, 'केवली' केवलज्ञानी 'अरिहंते' तीर्थङ्करों का 'कित्तइस्सं' मैं स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—(तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों जगत में धर्म का उद्योत करने वाले, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले और राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौवीसों केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों का मैं स्तवन करूँगा ॥१॥

‡ उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

+ सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

† कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

---

‡ ऋषभमजितं च वन्दे सम्भवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

+ सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

† कुन्थुमरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

खाँसना, छींकना, जँभाई लेना, डकारना, अपान वायु का सरना, सिर आदि का घूमना, पित्त बिगड़ने से मूर्च्छा का होना, अङ्ग का सूक्ष्म हलन-चलन, कफ-थूक आदि का सूक्ष्म झरना, दृष्टि का सूक्ष्म संचलन–ये तथा इनके सदृश अन्य क्रियाएँ जो स्वयमेव हुआ करती हैं और जिनके रोकने से अशान्ति का सम्भव है उनके होते रहने पर भी काउस्सग अभङ्ग ही है। परन्तु इनके सिवाय अन्य क्रियाएँ जो आप ही आप नहीं होतीं–जिन का करना रोकना इच्छा के अधीन है–उन क्रियाओं से मेरा कायोत्सर्ग अखण्डित रहे अर्थात् अपवादभूत क्रियाओं के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया मुझसे न हो और इससे मेरा काउस्सग सर्वथा अभङ्ग रहे यही मेरी अभिलाषा है।

(काउस्सग्ग का काल-परिमाण तथा उसकी प्रतिज्ञा)। मैं अरिहंत भगवान् को 'नमो अरिहंताणं' शब्द द्वारा नमस्कार करके काउस्सग को पूर्ण न करूँ तब तक शरीर से निश्चल बन कर, वचन से मौन रह कर और मन से शुभ ध्यान धर कर पापकारी सब कामों से हटजाता हूँ–कायोत्सर्ग करता हूँ।

८–लोगस्स सूत्र।

* लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥

* लोकस्योद्द्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान्।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'लोगस्स' लोक में 'उज्जोअगरे' उद्योत-प्रकाश करने वाले, 'धम्मतित्थयरे' धर्मरूप तीर्थ की स्थापन करने वाले, 'जिणे' राग-द्वेष जीतने वाले, 'चउवीसंपि' चौवीसों, 'केवली' केवलज्ञानी 'अरिहंते' तीर्थङ्करों का 'कित्तइस्सं' मै स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—(तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों जगत में धर्म का उद्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले और राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौवीसों केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों का मै स्तवन करूँगा ॥१॥

‡ उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

+ सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

† कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

---

‡ ऋषभमजितं च वन्दे सम्भवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

+ सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

† कुन्थुमरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'उसभं' श्रीऋषभदेव स्वामी को 'च' और 'अजिअं' श्रीअजितनाथ को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'संभवं' श्रीसंभवनाथ स्वामी को, 'अभिणंदणं' श्रीअभिनन्दन स्वामी को, 'सुमइं' श्रीसुमतिनाथ प्रभु को, 'पउमप्पहं' श्रीपद्मप्रभ स्वामी को, 'सुपासं' श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान् को 'च' और 'चंदप्पहं' श्रीचन्द्रप्रभ 'जिणं' जिन को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'सुविहिं' श्रीसुविधिनाथ—[दूसरा नाम] 'पुप्फदंतं' श्रीपुष्पदन्त भगवान् को, 'सीअल' श्रीशीतलनाथ को, 'सिज्जंस' श्रीश्रेयांसनाथ को, 'वासुपुज्जं' श्रीवासुपूज्य को, 'विमलं', श्रीविमलनाथ को, 'अणंतं' श्रीअनन्तनाथ को, 'धम्मं' श्रीधर्मनाथ को 'च' और 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ 'जिणं' जिनेश्वर को, 'वंदामि' वन्दन करता हूँ। 'कुंथुं' श्रीकुन्थुनाथ को, 'अरं' श्रीअरनाथ को, 'मल्लिं' श्रीमल्लिनाथ को, 'मुणिसुव्वयं' श्रीमुनिसुव्रत को, 'च' और 'नमिजिणं' श्रीनमिनाथ जिनेश्वर को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'रिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि—श्रीनेमिनाथ को 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ को 'तह' तथा 'वद्धमाणं' श्रीवर्द्धमान-श्रीमहावीर भगवान् को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ २-४ ॥

भावार्थ—(स्तवन)। श्रीऋषभनाथ, श्रीअजितनाथ, श्रीसंभवनाथ, श्रीअभिनन्दन, श्रीसुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्रीसुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीसुविधिनाथ, श्रीशीतलनाथ, श्रीश्रेयांसनाथ, श्रीवासुपूज्य, श्रीविमलनाथ, श्रीअनन्तनाथ, श्रीधर्मनाथ, श्रीशान्तिनाथ, श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, श्री-

मल्लिनाथ, श्रीमुनिसुव्रत, श्रीनमिनाथ, श्रीअरिष्टनेमि, श्री-पार्श्वनाथ और श्रीमहावीर स्वामी—इन चौबीस जिनेश्वरों की मैं स्तुति–वन्दना करता हूँ ॥ २-४ ॥

* एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'मए' मेरे द्वारा 'अभिथुआ' स्तवन किये गये, 'विहुयरयमला' पाप-रज के मल से विहीन, 'पहीणजरमरणा' बुढ़ापे तथा मरण से मुक्त, 'तित्थयरा' तीर्थ के प्रवर्त्तक 'चउवीसंपि' चौबीसों 'जिणवरा' जिनेश्वर देव 'मे' मेरे पर 'पसीयंतु' प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

+ कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'लोगस्स' लोक में 'उत्तमा' प्रधान [तथा] 'सिद्धा' सिद्ध हैं [और जो] 'कित्तियवंदियमहिया' कीर्तन, वन्दन तथा पूजन को प्राप्त हुए हैं 'ए' वे [मुझको] 'आरुग्गबोहिलाभं' आरोग्य का तथा धर्म का लाभ [और] 'उत्तमं' उत्तम 'समाहिवरं' समाधि का वर 'दिंतु' देवें ॥ ६ ॥

---

* एवं मयाऽभिष्टुता विधूतरजोमला प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवरास्तीर्थंकरा मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

+ कीर्तितवन्दितमहिता य एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः ।
आरोग्यबोधिलाभंसमाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

‡ चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'चंदेसु' चन्द्रों से 'निम्मलयरा' विशेष निर्मल, 'आइच्चेसु' सूर्यों से भी 'अहियं' अधिक, 'पयासयरा' प्रकाश करने वाले [और] 'सागरवरगंभीरा' महासमुद्र के समान गम्भीर 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'मम' मुझको 'सिद्धिं' सिद्धि-मोक्ष 'दिसंतु' देवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—(भगवान् से प्रार्थना) जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्ममल से रहित हैं जो जरा मरण दोनों से मुक्त हैं; और जो तीर्थ के प्रवर्तक हैं वे चौबीसों जिनेश्वर मेरे पर प्रसन्न हों—उनके आलम्बन से मुझमें प्रसन्नता हो ॥ ५ ॥

जिनका कीर्तन, वन्दन और पूजन नरेन्द्रों, नागेन्द्रों तथा देवेन्द्रों तक ने किया है, जो संपूर्ण लोकमें उत्तम है और जो सिद्धि को प्राप्त हुए है वे भगवान् मुझको आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर देवें—उनके आलम्बन से बल पाकर मै आरोग्य आदि का लाभ करूँ ॥ ६ ॥

सिद्ध भगवान जो सब चन्द्रों से विशेष निर्मल हैं, सब सूर्यों मे विशेष प्रकाशमान हे और "स्वयंभूरमण नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, उनके आलम्बन से मुझ को सिद्धि मोक्ष प्राप्त हो ॥७॥

---

‡ चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।
सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

तीर्थङ्करों के माता पिता आदि के नाम।

	तीर्थङ्कर-नाम।	पितृ-नाम।	मातृ-नाम।	जन्म-स्थान।	लाञ्छन।
१	ऋषभदेव	नाभि	मरुदेवी	अयोध्या	बैल
२	अजितनाथ	जितशत्रु	विजया	अयोध्या	हाथी
३	संभवनाथ	जितारि	सेना	श्रावस्ति	घोड़ा
४	अभिनन्दन	संवर	सिद्धार्था	अयोध्या	बन्दर
५	सुमतिनाथ	मेघरथ	सुमङ्गला	अयोध्या	क्रौञ्च
६	पद्मप्रभ	धर	सुसीमा	कौशाम्बी	पद्म
७	सुपार्श्वनाथ	सुप्रतिष्ठ	पृथ्वी	काशी	स्वस्तिक
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मणा	चन्द्रपुरी	चन्द्र
९	सुविधिनाथ	सुग्रीव	श्यामा	काकंदी	मगर
	शीतलनाथ	दृढरथ	नन्दा	भद्दिलपुर	श्रीवत्स
१	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	सिंहपुर	गेंडा
२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	जया	चम्पानगरी	भैंसा
३	विमलनाथ	कृतवर्म	रामा	कम्पिलपुर	सूअर
४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सुयशा	अयोध्या	बाज
५	धर्मनाथ	भानु	सुव्रता	रत्नपुर	वज्र
६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	अचिरा	हस्तिनापुर	मृग
७	कुन्थुनाथ	सूर	श्री	हस्तिनापुर	बकरा
८	अरनाथ	सुदर्शन	देवी	हस्तिनापुर	नन्दावर्त
९	मल्लिनाथ	कुम्भ	प्रभावती	मिथिला	कुम्भ
	मुनिसुव्रत	सुमित्र	पद्मा	राजगृह	कछुआ
१	नमिनाथ	विजय	वप्रा	मिथिला	नीलकमल
२	नेमिनाथ	समुद्रविजय	शिवादेवी	सौरीपुर	शङ्ख
३	पार्श्वनाथ	अश्वसेन	वामा	काशी	साँप
४	महावीरस्वामी	सिद्धार्थ	त्रिशला	क्षत्रियकुण्ड	सिंह

यह वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३८२-३८६ में है।

९—सामायिक सूत्र ।

* करेमि भंते ! सामाइयं । सावज्जं जोगं पच्चक्खामि । जावनियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'भंते' हे भगवन् [मैं] 'सामाइयं' सामायिकव्रत 'करेमि' ग्रहण करता हूँ [और] 'सावज्जं' पापसहित 'जोगं' व्यापार का 'पच्चक्खामि' प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ । 'जाव' जब तक [मैं] 'नियमं' इस नियम का 'पज्जुवासामि' पर्युपासन—सेवन करता रहूँ [तब तक] 'तिविहेणं' तीन प्रकार के [योगसे] अर्थात् 'मणेणं वायाए काएणं' मन, वचन, काया से 'दुविहं' दो प्रकार का [त्याग करता हूँ] अर्थात् 'न करेमि' [सावद्य योग को] न करूँगा [और] 'न कारवेमि' न कराऊंगा । 'भंते' हे स्वामिन् ! 'तस्स' उससे—प्रथम के पाप से [मैं] 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ, 'निन्दामि' [उसकी] निन्दा करता हूँ [और] 'गरिहामि' गर्हा—विशेष निन्दा करता हूँ, 'अप्पाणं' आत्मा को [उस पाप-व्यापार से] 'वोसिरामि' हटाता हूँ ॥

---

* करोमि भदन्त ! सामायिकं । सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि । यावत् नियमं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

भावार्थ—मैं सामायिकव्रत ग्रहण करता हूँ। राग-द्वेष का अभाव या ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ ही सामायिक है, इस लिये पाप वाले व्यापारों का मैं त्याग करता हूँ।

जब तक मैं इस नियम का पालन करता रहूँ तब तक मन वचन और शरीर इन तीन साधनों से पाप-व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा॥

हे स्वामिन्! पूर्व-कृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, अपने हृदय में उसे बुरा समझता हूँ और गुरु के सामने उसकी निन्दा करता हूँ। इस प्रकार मैं अपने आत्मा को पाप-क्रिया से छुड़ाता हूँ।

१०—सामायिक पारने का सूत्र।

* सामाइयवयजुत्तो, जाव मणे होई नियमसंजुत्तो।
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिआ वारा॥१॥

अन्वयार्थ—[श्रावक] 'जाव' जब तक 'सामाइयवयजुत्तो' सामायिकव्रत-सहित [तथा] 'मणे' मनके 'नियमसंजुत्तो' नियम-सहित 'होई' हो [और] 'जत्तिया' जितनी 'वारा' वार 'सामाइय' सामायिकव्रत [लेवे तब तक और उतनी वार] 'असुहं कम्मं' अशुभ कर्म 'छिन्नइ' काटता है॥१॥

भावार्थ—मनको नियम में—कब्जे में—रखकर जब तक और जितनी वार सामायिक व्रत लिया जाता है तब तक और

* सामायिकव्रतयुक्तो यावन्मनसि भवति नियमसंयुक्तः। छिनत्ति अशुभं कर्म सामायिकं यावतो वारान्॥१॥

उतनी बार अशुभ कर्म काटा जाता है; सारांश यह है कि सामायिक से ही अशुभ कर्म का नाश होता है ॥१॥

* सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥२॥

अन्वयार्थ—'उ' पुनः 'सामाइअम्मि' सामायिकव्रत 'कए' लेने पर 'सावओ' श्रावक 'जम्हा' जिस कारण 'समणो इव' साधु के समान 'हवइ' होता है 'एएण' इस 'कारणेणं' कारण [वह] 'सामाइअं' सामायिक 'बहुसो' अनेक बार 'कुज्जा' करे ॥२॥

भावार्थ—श्रावक सामायिकव्रत लेने से साधु के समान उच्च दशा को प्राप्त होता है, इसलिए उस को बार बार सामायिकव्रत लेना चाहिये ॥२॥

मैंने सामायिक विधि से लिया, विधि से पूर्ण किया, विधि में कोई अविधि हुई हो तो मिच्छामि दुक्कडं ।
दस मन के, दस वचन के, बारह काया के कुल बत्तीस दोषों में से कोई दोप लगा हो तो मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

* सामायिके तु कृते, श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन, बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥२॥

१—मन के १० दोषः-(१) दुश्मनको देख कर जलना । (२) अविवेकपूर्ण

११–जगचिंतामणि चैत्यवंदन।

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैत्यवंदन करूं? इच्छं।

अर्थ–सुगम है।

* जगचिंतामणि जगहनाह जगगुरु जगरक्खण, जगबंधव जगसत्थवाह जगभावविअक्खण। अट्ठावयसंठविअरूव कम्मट्ठविणासण, चउवीसंपि जिणवर जयंतु अप्पडिहयसासण ॥ १ ॥

बात सोचना। (३) तत्त्व का विचार न करना। (४) मन में व्याकुल होना। (५) इज्जत की चाह किया करना। (६) विनय न करना। (७) भय का विचार करना। (८) व्यापार का चिन्तन करना। (९) फल में सन्देह करना। (१०) निदानपूर्वक –फल का सङ्कल्प कर के धर्म किया करना ॥

वचन के १० दोष –(१) दुर्वचन बोलना। (२) हूं कारें किया करना। (३) पाप-कार्य का हुक्म देना। (४) बे काम बोलना। (५) कलह करना। (६) कुशल-क्षेम आदि पूछ कर आगत-स्वागत करना। (७) गाली देना। (८) बालक को खेलाना। (९) विकथा करना। (१०) हँसी दिल्लगी करना ॥

काया के १२ दोष –(१) आसन को स्थिर न रखना। (२) चारों ओर देखते रहना। (३) पाप वाला काम करना। (४) अगडाई लेना—बदन तोड़ना। (५) अविनय करना। (६) भीत आदि के सहारे बैठना। (७) मैल उतारना। (८) खुजलाना। (९) पैर पर पैर चढाना। (१०) काम वासना से अगों को खुला रखना। (११) जन्तुओं के उपद्रव से डर कर शरीर को ढांकना। (१२) ऊंघना। सब मिला कर बत्तीस दोष हुए ॥

* जगचिन्तामणयो जगन्नाथा जगद्गुरवो जगद्रक्षणा जगद्बन्धवो जगत्सार्थवाहा जगद्भावविचक्षणा अष्टापदसंस्थापितरूपा कर्माष्टकविनाशना श्चतुर्विंशतिरपि जिनवरा जयन्तु अप्रतिहतशासना ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'जगचिंतामणि' जगत् में चिन्तामणि रत्न के समान, 'जगहनाह' जगत् के स्वामी, 'जगगुरु' जगत् के गुरु, 'जगरक्खण' जगत् के रक्षक, 'जगबंधव' जगत् के बन्धु—हितैषी, 'जगसत्थवाह' जगत् के सार्थवाह—अगुए, 'जगभावविअक्खण' जगत् के भावों को जानने वाले 'अट्ठावयसंठविअरूव' अष्टापद पर्वत पर जिन की प्रतिमायें स्थापित हैं, 'कम्मट्ठविणासण' आठ कर्मों का नाश करने वाले 'अप्पडिहयसासण' अबाधित उपदेश करने वाले [ऐसे] 'चउवीसंपि' चौबीसों 'जिणवर' जिनेश्वर देव 'जयंतु' जयवान् रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—[चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति] जो जगत् में चिन्तामणि रत्न के समान वाञ्छित वस्तु के दाता हैं, जो तीन जगत् के नाथ हैं, जो समस्त जगत् के शिक्षा-दायक गुरु हैं, जो जगत् के सभी प्राणियों को कर्म से छुड़ाकर उनकी रक्षा करने वाले हैं, जो जगत् के हितैषी होने के कारण बन्धु के समान हैं, जो जगत् के प्राणिगण को परमात्म-पद के उच्च ध्येय की ओर खींच ले जाने के कारण उसके सार्थवाह—नेता हैं, जो जगत् के संपूर्ण भावों को—पदार्थों को पूर्णतया जानने वाले हैं, जिनकी प्रतिमायें अष्टापद पर्वत के ऊपर स्थापित हैं, जो आठ कर्मों का नाश करने वाले हैं और जिनका शासन सब जगह अस्खलित है उन चौबीस तीर्थङ्करों की जय हो ॥ १ ॥

* कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि
उक्कोसय सत्तरिसय जिणवराण विहरंत लब्भइ;
नवकोडिहिं केवलीण, कोडिसहस्स नव साहु गम्मइ ।
संपइ जिणवर वीस, मुणि बिहुं कोडिहिं वरनाण,
समणह कोडिसहसदुअ थुणिज्जइ निच विहाणि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—' कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं ' सब कर्मभूमियों में [मिलकर] ' पढमसंघयणि ' प्रथम संहनन वाले ' विहरंत ' विहरमाण ' जिणवराण ' जिनेश्वरों की 'उक्कोसय' उत्कृष्ट [संख्या] ' सत्तरिसय ' एक सौ सत्तर की १७० ' लब्भइ ' पायी जाती है, [तथा] ' केवलीण ' सामान्य केवलज्ञानियों की [संख्या] ' नवकोडिहिं ' नव करोड़ [और] 'साहु' साधुओं की [संख्या] ' नव ' नव ' कोडिसहस्स ' हजार करोड़ ' गम्मइ ' पायी

* कर्म्मभूमिषु कर्म्मभूमिषु प्रथमसंहननिनां उत्कृष्टतः सप्ततिशतं जिनवराणां विहरतां लभ्यते; नवकोट्यः केवलिनां, कोटिसहस्राणि नव साधवो गम्यन्ते । सम्प्रति जिनवराः विंशतिः, मुनयो द्वे कोटी वरज्ञानिनः, श्रमणानां कोटिसहस्रद्विकं स्तूयते नित्यं विभाते ।

१—पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और महाविदेह की १६० विजय—कुल १७० विभाग कर्मक्षेत्र के हैं; उन सब में एक एक तीर्थङ्कर होने के समय उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है जो दूसरे श्रीअजितनाथ तीर्थङ्कर के जमाने में थी ।

जाती है ।' संपइ ' वर्त्तमान समय में ' जिणवर ' जिनेश्वर ' वीस' बीस हैं, ' वरनाण ' प्रधान ज्ञान वाले–केवलज्ञानी ' मुणि ' मुनि ' बिहुं ' दो ' कोडिहिं ' करोड़ हैं, [और] ' समणह ' सामान्य श्रमण–मुनि ' कोडिसहसदुअ ' दो हज़ार करोड़ हैं; [उनकी] ' निच्चं ' सदा ' विहाणि ' प्रातःकाल में ' थुणिज्जइ ' स्तुति की जाती है ॥ २ ॥

भावार्थ—[तीर्थङ्कर, केवली और साधुओं की स्तुति] सब कर्म भूमियों में–पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और पाँच महा-विदेह में–विचरते हुए तीर्थङ्कर अधिक से अधिक १७० पाये जाते हैं। वे सब प्रथम संहनन वाले ही होते हैं । सामान्य केवली उत्कृष्ट नव करोड़ और साधु, उत्कृष्ट नव हज़ार करोड–९० अरब–पाये जाते हैं । परन्तु वर्तमान समय में उन सब की संख्या जघन्य है; इसलिये तीर्थङ्कर सिर्फ २०, केवलज्ञानी मुनि दो करोड़ और अन्य साधु दो हज़ार करोड़–२०. अरब– हैं । इन सब की मैं हमेशा प्रातःकाल में स्तुति करता हूँ ॥२॥

१—जम्बूद्वीप के महाविदेह की चार, धातकी खण्ड के दो महाविदेह की आठ और पुष्करार्ध के दो महाविदेह की आठ—इन बीस विजयों में एक एक तीर्थङ्कर नियम से होते ही हैं; इस कारण उनकी जघन्य संख्या बीस की मानी हुई है जो इस समय है ।

* जयउ सामिय जयउ सामिय रिसह सत्तुंजि, उज्जित प नेमिजिण, जयउ वीर सच्चउरिमंडण, भरुअच्छहिं मुणिसुव्व मुहरिपास। दुह-दुरिअखंडण अवर विदेहिं तित्थयरा, चि दिसिविदिसि जिं के वि तीआणागयसंपइअ वंदुं जि सव्वेवि ॥३॥

अन्वयार्थ—'जयउ सामिय जयउ सामिय' हे स्वामिन् आपकी जय हो, आपकी जय हो। 'सत्तुंजि' शत्रुञ्जय पर्व पर स्थित 'रिसह' हे ऋषभदेव प्रभो! 'उज्जित' उज्जयन्त-गिरिनार पर्वत-पर स्थित 'पहु नेमिजिण' हे नेमिजिन प्रभो 'सच्चउरिमडण' सत्यपुरी—साँचोर[1]—के मण्डन 'वीर' हे वीर प्रभो 'भरुअच्छहिं' भृगुकच्छ—भरुच[2]—में स्थित 'मुणिसुव्वय' हे मुनिसु प्रभो! तथा 'मुहरि' मुहुरी[3]—टींटोई—गाव में स्थित 'पास' पार्श्वनाथ प्रभो! 'जयउ' आपकी जय हो। 'विदेहिं' मह

* जयतु स्वामिन् जयतु स्वामिन्! ऋषभ शत्रुञ्जये। उज्जय प्रभो नेमिजिन। जयतु वीर सत्यपुरीमण्डन। भृगुकच्छे मुनिसुव्रत। मुहरि पार्श्व। दुःख दुरित खण्डना अपरे विदेहे तीर्थङ्करा, चतसृषु दिक्षु विदिक्षु केऽपि अतीतानागतसाम्प्रतिका वन्दे जिनान् सर्वानपि ॥३॥

१—यह जोधपुर स्टेट में है। जोधपुर-बीकानेर रेल्वे, वाड़मोर स्टेश से जाया जाता है।

२—यह शहर गुजरात में वड़ौदा और सूरत के बीच नर्मदा नदी तट पर स्थित है। (बी बी एण्ड सी आई रेल्वे)

३—यह तीर्थ इस समय इडर स्टेट में खडहर रूप में है। इसके जी मन्दिर की प्रतिमा पास के टीटोई गाँव में स्थापित की गई है

विदेह क्षेत्र में 'दुह-दुरिअखंडण' दुःख और पाप का नाश करने वाले [तथा] 'चिहुं' चार 'दिसिविदिसि' दिशाओं और विदिशाओं में 'तीआणागयसंपइअ' भूत, भावी और वर्तमान 'जिं केवि' जो कोई 'अवर' अन्य 'तित्थयरा' तीर्थंकर हैं, 'जिण सव्वेवि' उन सब जिनेश्वरों को 'वंदुं' वन्दन करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[कुछ खास स्थानों में प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की महिमा और जिन-वन्दना] । शत्रुञ्जय पर्वत पर प्रतिष्ठित हे आदि नाथ विभो ! गिरिनार पर विराजमान हे नेमि-नाथ भगवन् ! सत्यपुरी की शोभा बढाने वाले हे महावीर परमात्मन् !, भरुच के भूषण हे मुनिसुव्रत जिनेश्वर ! और मुहरि गाँव के मण्डन हे पार्श्वनाथ प्रभो !, आप सब की निरन्तर जय हो। महाविदेह क्षेत्र में, विशेष क्या, चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में जो जिन हो चुके हैं, जो मौजूद हैं, और जो होने वाले हैं, उन सभों को मैं वन्दन करता हूँ। सभी जिन, दुःख और पाप का नाश करने वाले हैं ॥३॥

* सत्ताणवइ सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठ कोडीओ ।
बत्तिसय बासिआइं, तिअलोए चेइए वंदे ॥४॥

टीटोई अमनगर से जाया जाता है। (अमदावाद-प्रान्तिज रेलवे, गुजरात)।

* सप्तनवतिं सहस्राणि लक्षाणि षट्पञ्चाशतमष्ट कोटीः ।
द्वात्रिंशतं शतानि द्व्यशीतिं त्रिकलोके चैत्यानि वन्दे ॥४॥

अन्वयार्थ—'तिअलोए' तीन लोक में 'अट्ठकोडीओ' आठ करोड़, 'छप्पन्न' छप्पन 'लक्खा' लाख 'सत्ताणवइ' सत्तानवे 'सहस्सा' हजार 'बत्तिसय' बत्तीस सौ 'बासिआइं' ब्यासी 'चेइए' चैत्य-जिन प्रासाद हैं [उनको] 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—[तीनों लोक के चैत्यों को वन्दन]। स्वर्ग, मृत्यु और पातल इन तीनों लोक के संपूर्ण चैत्यों की संख्या आठ करोड़, छप्पन लाख सत्तानवे हजार, बत्तीस सौ, और ब्यासी (८५७००२८२) है; उन सब को मैं वन्दन करता हूँ ॥४॥

† पनरस कोडिसयाइं, कोडी बायाल लक्ख अडवन्ना।
छत्तीस सहस असिइं, सासयबिंबाइं पणमामि ॥५॥

अन्वयार्थ—'पनरस कोडिसयाइं' पन्द्रह सौ करोड़ 'बायाल' बयालीस 'कोडी' करोड़ 'अडवन्ना' अट्ठावन 'लक्खा' लाख 'छत्तीस सहस' छत्तीस हजार 'असिइं' अस्सी 'सासयबिंबाइं' शाश्वत- कभी नाश नहीं पाने वाले-बिम्बों को-जिन प्रतिमाओं को 'पणमामि' प्रणाम करता हूँ ॥५॥

भावार्थ—सभी शाश्वत बिम्बों को प्रणाम करता हूँ। शास्त्र में उनकी संख्या पन्द्रह सौ बयालीस करोड़, अट्ठावन

---

† पञ्चदश कोटिशतानि कोटीर्द्विचत्वारिंशत लक्षाणि अष्टपञ्चाशतं।
षट्त्रिंशतं सहस्राणि अशीतिं शाश्वतबिम्बानि प्रणमामि ॥५॥

लाख, छत्तीस हजार, और अस्सी (१५४२५८३६०८०) बतलाई है ॥ ५ ॥

१२—जं किंचि सूत्र ।

* जं किंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए ।
जाइं जिणबिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'सग्गे' स्वर्ग 'पायालि' पाताल [और] 'माणु से' मनुष्य 'लोए' लोक में 'जं' जो 'किंचि' कोई 'तित्थं' तीर्थ 'नाम' प्रसिद्ध हो तथा 'जाइं' जो 'जिणबिंबाइं' जिन-बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सब को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—[जिन-बिम्बों को नमस्कार] । स्वर्ग-लोक, पाताललोक और मनुष्य-लोक में–ऊर्ध्व, अधो और मध्यम लोक में–जो तीर्थ[1] और जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

१३—नमुत्थुणं सूत्र ।

† नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं, आइगराणं तित्थ-

---

* यत्किंचिन्नाम तीर्थं, स्वर्गे पाताले मानुषे लोके ।
यानि जिनबिम्बानि तानि सर्वाणि वन्दे ॥१॥

१—वर्तमान कुछ तीर्थों के नामः—शत्रुञ्जय, गिरिनार, तारंगा, शङ्खेश्वर, कुंभारिया, आबू, राणकपुर, केसरियाजी, बामणवाडा, मांडवगढ़, अन्तरीक्ष, मक्षी, हस्तिनापुर, इलाहाबाद, बनारस, अयोध्या, संमेतशिखर, राजगृह, काकंदी, क्षत्रियकुण्ड, पावापुरी, चम्पापुरी इत्यादि ।

† नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भगवद्भ्य आदिकरेभ्य स्तीर्थकरेभ्यः स्वयंसंबु-

यराणं सयं-संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं पुरिस-वर-पुंडरीआणं पुरिस-वर-गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोग नाहाणं लोग-हिआणं लोग-पईवाणं लोग-पज्जोअ-गराणं अभय-दयाणं चक्खु-दयाणं मग्ग-दयाणं सरण-दयाणं बोहि-दयाणं, धम्म-दयाणं धम्म-देसयाणं धम्म-नायगाणं धम्म-सारहीणं धम्म-वर-चाउरंत-चक्क-वट्टीणं, अप्पडिहय-वर-नाण दंसण-धराणं विअट्टछउमाणं, जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुण-रावित्ति सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।

नमो जिणाणं जिअभयाणं ।

अन्वयार्थ—'नमुत्थुणं' नमस्कार हो 'अरिहंताणं भगवं-ताणं' अरिहंत भगवान् को [कैसे हैं वे भगवान् सो कहते हैं:—] 'आइगराणं' धर्म की शुरूआत करने वाले,

---

द्देभ्य पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवर पुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्यः लोकनाथेभ्यः लोकहितेभ्यः लोकप्रदीपेभ्यः लोकप्रद्योतकरेभ्यः, अभयदयेभ्य चक्षुर्दयेभ्य मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः बोधिदयेभ्यः धर्मनायकेभ्यः धर्मसारथिभ्यः धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः व्यावृत्तच्छद्मभ्यः, जिनेभ्यो जापकेभ्यः तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्या-बाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगति नामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः ।

'तित्थयराणं' धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, 'सयंसंबुद्धाणं' अपने आप ही बोध को पाये हुए, 'पुरिसुत्तमाणं' पुरुषों में श्रेष्ठ, 'पुरिस-सीहाणं' पुरुषों में सिंह के समान, 'पुरिसवर-पुंडरीआणं' पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, 'पुरिसवर-गंधहत्थीणं' पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान, 'लोगुत्तमाणं' लोगों में उत्तम, 'लोग-नाहाणं' लोगों के नाथ, 'लोग-हिआणं' लोगों का हित करने वाले, 'लोग-पईवाणं' लोगों के लिये दीपक के समान, 'लोग-पज्जोअ-गराणं' लोगों में उद्द्योत करने वाले, 'अभय-दयाणं' अभय देने वाले, 'चक्खु-दयाणं' नेत्र देने वाले, 'मग्ग-दयाणं' धर्म-मार्ग के दाता, 'सरण-दयाणं' शरण देने वाले, 'बोहि-दयाणं' बोधि अर्थात् सम्यक्त्व देने वाले, 'धम्म-दयाणं' धर्म के दाता, 'धम्म-देसयाणं' धर्म के उपदेशक, 'धम्म-नायगाणं' धर्म के नायक 'धम्म-सारहीणं' धर्म के सारथि, 'धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं' धर्म में प्रधान तथा चार गति का अन्त करने-वाले अतएव चक्रवर्ती के समान, 'अप्पडिहय-वरनाणदंसण-धराणं' अप्रतिहत तथा श्रेष्ठ ऐसे ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, 'विअट्ट-छउमाणं' छद्म अर्थात् घाति-कर्म-रहित, 'जिणाणं जावयाणं' [राग द्वेष को] स्वयं जीतने वाले, औरों को जितानेवाले, 'तिन्नाणं तारयाणं' [संसार से] स्वयं तरे हुए दूसरों को तारनेवाले 'बुद्धाणं बोहयाणं' स्वयं बोध को पाये हुए दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, 'मुत्ताणं मोअगाणं'

[बन्धन से] स्वयं छुटे हुए दूसरों को छुडाने वाले, ' सव्वन्नूणं ' सर्वज्ञ, ' सव्वदरिसीणं ' सर्वदर्शी [तथा] ' सिवं ' निरुपद्रव, ' अयलं ' स्थिर, ' अरुअं ' रोग-रहित, ' अणंतं ' अन्त-रहित, ' अक्खयं ' अक्षय, ' अव्वाबाहं ' बाधा-रहित, ' अपुणराविति ' पुनरागमन रहित [ऐसे] ' सिद्धि गइ-नामधेयं ठाणं ' सिद्धिगति नामक स्थान को अर्थात् मोक्ष को ' संपत्ताणं ' प्राप्त करने वाले ।

'नमो ' नमस्कार हो ' जिअभयाणं ' भय को जीतने वाले ' जिणाणं ' जिन भगवान् को ॥

जे अ अइआ सिद्धा, जे अ भविस्संतिणागए काले ।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—' जे ' जो ' सिद्धा ' सिद्ध ' अईआ ' भूत-काल में हो चुके हैं, ' जे ' जो ' अणागए ' भविष्यत् ' काले ' कालमें ' भविस्संति ' होंगे ' अ ' और [जो] ' संपइ ' वर्तमान काल में ' वट्टमाणा ' विद्यमान हैं ' सव्वे ' उन सब को ' तिविहेण ' तीन प्रकार से अर्थात् मन वचन काया से ' वंदामि ' वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—अरिहंतों को मेरा नमस्कार हो; जो अरिहंत, भगवान् अर्थात् ज्ञानवान् हैं, धर्म की आदि करने वाले हैं, साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, दूसरे के उपदेश के सिवाय ही बोध को प्राप्त हुए हैं, सब

ये च अतीताः सिद्धाः ये च भविष्यन्ति अनागते काले ।
सम्प्रति च वर्तमानाः सर्वान् त्रिविधेन वन्दे ॥ १ ॥

पुरुषों में उत्तम हैं, पुरुषों में सिंह के समान निडर हैं, पुरुषों में कमल के समान अलिप्त हैं, पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान सहनशील हैं, लोगों में उत्तम हैं, लोगों के नाथ हैं, लोगों के हितकारक हैं, लोक में प्रदीप के समान प्रकाश करने वाले हैं, लोक में अज्ञान अन्धकार का नाश करने वाले है, दुःखियों को अभयदान देने वाले हैं, अज्ञान से अन्ध ऐसे लोगों को ज्ञानरूप नेत्र देने वाले हैं, मार्गभ्रष्ट को अर्थात् गुमराह को मार्ग दिखाने वाले हैं, शरणागत को शरण देने वाले हैं, सम्यक्त्व प्रदान करने वाले हैं, धर्म-हीन को धर्म-दान करने वाले हैं, जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश करने वाले हैं, धर्म के नायक—अगुए हैं; धर्म के सारथि—संचालक हैं; धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्ती के समान चतुरन्त हैं अर्थात् जैसे चार दिशाओं की विजय करने के कारण चक्रवर्ती चतुरन्त कहलाता है वैसे अरिहंत भी चार गतियों का अन्त करने के कारण चतुरन्त कहलाते हैं, सर्वपदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं, चार घाति-कर्मरूप आवरण से मुक्त हैं, स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले और दूसरों को भी जिताने वाले हैं, स्वयं संसार के पार पहुँच चुके है और दूसरों को भी उस के पार पहुँचाने वाले हैं, स्वयं ज्ञान को पाये हुए हैं और दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं, स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा उपद्रव-रहित,

रहित, अचल, रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याकुलता-रहित और पुनरागमन-रहित ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त हैं।

सब प्रकार के भयों को जीते हुए जिनेश्वरों को नमस्कार हो।

जो सिद्ध अर्थात् मुक्त हो चुके हैं, जो भाविष्य में मुक्त होने वाले हैं तथा वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं उन सब-त्रैकालिक सिद्धों को मैं मन, वचन और शरीर से वन्दन करता हूँ ॥१०॥

१४—जावंति चेइआइं सूत्र।

* जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥१॥

अन्वयार्थ—'उड्ढे' ऊर्ध्वलोक में 'अहे अ' अधोलोक में 'अ' और 'तिरिअलोए' तिरछे लोक में 'तत्थ' जहाँ कहीं 'संताइं' वर्त्तमान 'जावंति' जितने 'चेइआइं' जिन-बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सब को 'इह' इस जगह 'संतो' रहता हुआ [मैं] 'वंदे' वन्दन करता हूं ॥१॥

भावार्थ—[सर्व-चैत्य स्तुति] ऊर्ध्वलोक अर्थात् ज्योतिर्लोक और स्वर्ग लोक, अधोलोक यानि पातल में वसने वाले

---

* यावन्ति चैत्यानि, ऊर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च।
सर्वाणि तानि वन्दे, इह संस्तत्र सन्ति ॥१॥

नागकुमारादि भुवनपतियों का लोक और मध्यम लोक यानि इस मनुष्य लोक में जितनी जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं यहां अपने स्थान में रहा हुआ वन्दन करता हूँ ॥१॥

१५-जावंत केवि साहू सूत्र ।

* जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ॥१॥

अन्वयार्थ—'भरह' भरत, 'एरवय' ऐरवत 'अ' और 'महाविदेहे' महाविदेह क्षेत्र में 'जावंत' जितने [और] 'के वि' जो कोई 'साहू' साधु हों 'तिविहेण' त्रि-करणपूर्वक 'तिदंड-विरयाणं' तीन दण्ड से विरत 'तेसिं' उन 'सव्वेसिं' सभों को [मैं] 'पणओ' प्रणत हूँ । ॥१॥

भावार्थ—[सर्व-साधु-स्तुति]। जो तीन दण्ड से त्रि-करण-पूर्वक अलग हुए हैं अर्थात् मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार को न स्वयं करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और न करते हुए को अच्छा समझते हैं उन सब साधुओं को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

---

* यावन्तः केऽपि साधवः भरतैरवतमहाविदेहे च ।
सर्वेभ्यस्तेभ्यः प्रणतः त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्यः ॥

१६-परमेष्ठि-नमस्कार ।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ॥

अर्थ—श्रीअरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ॥

१७-उवसग्गहरं स्तोत्र ।

* उवसग्गहरं-पासं, पासं वंदामि कम्म-घणमुक्कं ।
विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं ॥१॥

---

* यह स्तोत्र चतुर्दशपूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु का बनाया हुआ कहा जाता है। इस के बारे में ऐसी कथा प्रचलित है कि इन आचार्य का एक वराहमिहिर नाम का भाई था। वह किसी कारण से ईर्ष्यावश हो कर जैन साधुपन छोड़ दूसरे धर्म का अनुयायी हो गया था और ज्योतिषशास्त्र द्वारा अपना महत्त्व लोगों के बतला कर जैन साधुओं की निन्दा किया करता था। एक बार एक राजा की सभा में भद्रबाहु ने उसकी ज्योतिषशास्त्र-विषयक एक भूल बतलाई। इससे वह और भी अधिक जैन-धर्म का द्वेषी बन गया। अन्त में मर कर वह किसी हलकी योनि का देव हुआ और वहां पर पूर्वजन्म का स्मरण करने पर जैन-धर्म के ऊपर का उसका द्वेष फिर जागरित हो गया। इस द्वेष में अन्ध होकर उसने जैन संघ में मारी फैलानी चाही। तब भद्रबाहु ने उस मारी के निवारणार्थ इस स्तोत्र की रचना कर सब जैनों को इसका पाठ करना बतलाया। इसके पाठ से वह उपद्रव दूर हो गया। आदि वाक्य इसका 'उवसग्गहरं' होने से यह 'उपसर्गहर स्तोत्र' कहलाता है।

† उपसर्गहर-पार्श्वम् पार्श्वं वन्दे कर्मघनमुक्तम् ।
विषधरविषनिर्णाशं मङ्गलकल्याणावासम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'कम्म-घण-मुक्कं' कर्मों के समूह से छुटे हुए 'विसहरविस-निन्नासं' साँप के जहर का नाश करने वाले, 'मंगल-कल्लाण-आवासं' मंगल तथा आरोग्य के स्थान भूत [और] 'उवसग्ग-हरंपासं' उपसर्गों को हरण करने वाले पार्श्व नामक यक्ष के स्वामी [ऐसे] 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व नामक यक्ष जिनका सेवक है, जो कर्मों की राशि से मुक्त हैं, जिनके स्मरण मात्र से विषैले साँप का जहर नष्ट हो जाता है और जो मंगल तथा कल्याण के अवार हैं ऐसे भगवान् श्री पार्श्वनाथ को मैं वन्दन करता हूँ ॥१॥

* विसहर-फुलिंगमंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारी, दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'मणुओ' मनुष्य 'विसहर-फुलिंग-मंतं' विषधर स्फुलिङ्ग नामक मन्त्र को 'कंठे' कण्ठ में 'सया' सदा 'धारेइ' धारण करता है 'तस्स' उसके 'गह' ग्रह, 'रोग' रोग, 'मारी' हैजा और 'दुट्ठजरा' दुष्ट-कुपित-ज्वर [आदि] 'उवसामं' उपशान्ति 'जंति' पाते हैं ॥२॥

---

* विषधरस्फुलिङ्ग-मन्त्रं, कण्ठे धारयति यः सदा मनुजः।
तस्य ग्रहरोगमारीदुष्टज्वरा यान्ति उपशमम् ॥२॥

भावार्थ—जो मनुष्य भगवान् के नाम-गर्भित 'विषधर-स्फुलिङ्ग' मन्त्र को हमेशा कण्ठ में धारण करता है अर्थात् पढ़ता है उसके प्रतिकूल ग्रह, कष्ट साध्य रोग, भयंकर मारी और दुष्ट ज्वर ये सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥२॥

*** चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ ।**
नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥३॥

अन्वयार्थ—'मंतो' मन्त्र 'दूरे' दूर 'चिट्ठउ' रहो 'तुज्झ' तुझ को किया हुआ 'पणामोवि' प्रणाम भी 'बहुफलो' बहुत फलदायक 'होइ' होता है, [क्योंकि उस से] 'जीवा' जीव 'नरतिरिएसु वि' मनुष्य, तिर्यंच गति में भी 'दुक्खदोगच्चं' दुःख दरिद्रता 'न पावंति' नहीं पाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! विषधरस्फुलिङ्ग मन्त्र की बात तो दूर रही; सिर्फ तुझ को किया प्रणाम भी अनेक फलों को देता है, क्योंकि उस से मनुष्य तो क्या, तिर्यंच भी दुःख या दरिद्रता कुछ भी नहीं पाते ॥ ३ ॥

× तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

---

* तिष्ठतु दूरे मन्त्र तव प्रणामोऽपि बहुफलो भवति ।
नरतिरश्चोरपि जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम् ॥३॥

× तव सम्यक्त्वे लब्धे चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यधिके ।
प्राप्नुवन्ति अविघ्नेन, जीवा अजरामरं स्थानम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए' चिन्तामणि और कल्प वृक्ष से भी अधिक [ऐसे] 'सम्मत्ते' सम्यक्त्व को 'तुह' तुझ से 'लद्धे' प्राप्त कर लेने पर 'जीवा' जीव 'अविग्घेणं' विघ्न के सिवाय 'अयरामरं' जरा-मरण-रहित 'ठाणं' स्थान को 'पावंति' पाते है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणि-रत्न और कल्पवृक्ष से भी उत्तम है । हे भगवन् ! उस गुण को तेरे आलम्बन से प्राप्त कर लेने पर जीव निर्विघ्नता से अजरामर पद को पाते हैं ॥४॥

† इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भर-निब्भरेण हिअएण।
ता देव ! दिज्ज बोहिं, भवे-भवे पास-जिणचंद ॥५॥

अन्वयार्थ—' महायस ! ' हे महायशस्विन् ! [मैंने] 'इअ' इस प्रकार 'भत्ति-ब्भर-निब्भरेण' भक्ति के आवेग से परिपूर्ण ' हिअएण ' हृदय से 'संथुओ' [तेरी] स्तुति की 'ता' इस लिये 'पास-जिणचंद' हे पार्श्व-जिनचन्द्र 'देव' देव ! 'भवे भवे' हर एक भव में [मुझ को] 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिज्ज' दीजिये ॥ ५ ॥

भवार्थ—महायशस्विन् पार्श्वनाथ प्रभो ! इस प्रकार भक्तिपूर्ण हृदय से तेरी स्तुति कर के मै चाहता हूँ कि जन्म-जन्म में मुझ को तेरी कृपा से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ॥ ५ ॥

---

† इति संस्तुतो महायशः ! भक्तिभरनिर्भरेण हृदयेन ।
तस्मात् देव ! देहि बोधिं भवे भवे पार्श्व जिनचन्द्र ॥ ५ ॥

१८—जय वीयरायं सूत्र ।

* जय वीयराय ! जगगुरु !, होउ ममं तुह पभावओ भयवं ! ।
भव-निव्वेओ मग्गा—णुसरिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोग विरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'वीयराय' हे वीतराग ! 'जगगुरु' हे जगद्गुरो ! 'जय' [तेरी] जय हो । 'भयवं' हे भगवन् ! 'तुह' तेरे 'पभावओ' प्रभाव से 'ममं' मुझ को 'भवनिव्वेओ' संसार से वैराग्य, 'मग्गणुसरिआ' मार्गानुसारिपन, 'इट्ठफलसिद्धी' इष्ट फल की सिद्धि, 'लोगविरुद्धच्चाओ' लोक-विरुद्ध कृत्य का त्याग

१—चैत्यवन्दन के अन्त में संक्षेप और विस्तार इस तरह दो प्रकार से प्रार्थना की जा सक्ती है । संक्षेप में प्रार्थना करनी हो तो " दुक्खखओ कम्मक्खओ " यह एक ही गाथा पढ़नी चाहिये और विस्तार से करनी हो तो " जय वीयराय " आदि तीन गाथाएँ । यह बात श्रीवादि-वेताल शान्तिसूरि ने अपने चैत्यवन्दन महाभाष्य में लिखी है । किन्तु इस से प्राचीन समय में प्रार्थना सिर्फ दो गाथाओं से की जाती थी क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्थ पञ्चाशक गा ३२-३४ मे "जय वीयराय, लोग विरुद्धच्चाओ" इन दो गाथाओं से चैत्यवन्दन के अन्त में प्रार्थना करने की पूर्व परम्परा बतलाई है ।

* जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन् ।
भवनिर्वेदो मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ॥१॥
लोकविरुद्धत्यागो गुरुजनपूजा परार्थकरणं च ।
शुभगुरुयोगः तद्वचनसेवनाऽऽभवमखण्डा ॥२॥

'गुरुजणपूआ' पूजनीय जनों की पूजा, 'परत्थकरणं' परोपकार का करना, 'सुहगुरुजोगो' पवित्र गुरु का सङ्ग 'च' और 'तव्वय-णसेवणा' उनके वचन का पालन 'आभवं' जीवन पर्यन्त 'अखंडा' अखण्डित रूप से 'होउ' हो ॥ १—२ ॥

भावार्थ—हे वीतराग ! हे जगद्गुरो ! तेरी जय हो । संसार से वैराग्य, धर्म-मार्ग का अनुसरण, इष्ट फल की सिद्धि, लोकविरुद्ध व्यवहार का त्याग, बड़ों के प्रति बहुमान, परोपकार में प्रवृत्ति, श्रेष्ठ गुरु का समागम और उन के वचन का अखण्डित आदर—ये सब बातें हे भगवन् ! तेरे प्रभाव से मुझे जन्म-जन्म में मिलें ॥ १—२ ॥

* वारिज्जइ जइवि निया-ण बंधणं वीयराय ! तुह समए॥
तहवि मम हुज्ज सेवा, भवे भवे तुम्ह चलणाणं ॥३॥

अन्वयार्थ—'वीयराय' हे वीतराग ! 'जइवि' यद्यपि 'तुह' तेरे 'समए' सिद्धान्त में 'नियाणबंधणं' निदान—नियाणा करने का 'वारिज्जइ' निषेध किया जाता है 'तहवि' तो भी 'तुम्ह' तेरे 'चलणाणं' चरणों की 'सेवा' सेवना 'मम' मुझको 'भवे भवे' जन्म-जन्म में 'हुज्ज' हो ॥३॥

---

* वार्यते यद्यपि निदानबन्धनं वीतराग ! तव समये ।
तथापि मम भवतु सेवा भवे भवे तव चरणयोः ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे वीतराग! यद्यपि तेरे सिद्धान्त में नियाणा करने को अर्थात् फल की चाह रखकर क्रिया-अनुष्ठान करने की मनाही है तो भी मैं उसको करता हूँ; और कुछ भी नहीं, पर तेरे चरणों की सेवा प्रति जन्म में मिले—यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है ॥ ३ ॥

* दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ।
संपज्जउ मह एअं, तुह नाह! पणामकरणेणं ॥४॥

अन्वयार्थ— 'नाह' हे नाथ! 'तुह' तुझको 'पणामकरणेणं' प्रणाम करने से 'दुक्खखओ' दुःख का क्षय, 'कम्मखओ' कर्म का क्षय, 'समाहिमरणं' समाधि-मरण 'च' और 'बोहिलाभो अ' सम्यक्त्व का लाभ 'एअं' यह [सब] 'मह' मुझको 'संपज्जउ' प्राप्त हो ॥४॥

भावार्थ—हे स्वामिन्! तुझको प्रणाम करने से और कुछ भी नहीं; सिर्फ दुःख का तथा कर्म का क्षय; समभाव-पूर्वक मरण और सम्यक्त्व मुझे अवश्य प्राप्त हों ॥ ४ ॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥५॥

अन्वयार्थ—'सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं' सर्व मंगलों का मंगल 'सर्वकल्याणकारणं' सब कल्याणों का कारण; 'सर्वधर्माणां'

---

* दुःखक्षयः कर्मक्षयः समाधिमरणं च बोधिलाभश्च।
संपद्यतां ममैतत्, तव नाथ! प्रणामकरणेन ॥ ४ ॥

सब धर्मों में 'प्रधानं' प्रधान [ऐसा] 'जैनं शासनम्' जिन-कथित शासन-सिद्धान्त 'जयति' विजयी हो रहा है ॥५॥

भावार्थ—लौकिक-लोकोत्तर सब प्रकार के मंगलों की जड़ द्रव्य-भाव सब प्रकार के कल्याणों का कारण और संपूर्ण धर्मों में प्रधान जो वीतराग का कहा हुआ श्रुत-धर्म है वही सर्वत्र जयवान् वर्तरहा है ॥ ५ ॥

१९--अरिहंतचेइयाणं सूत्र।

* अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए, पूअणवत्तियाए, सक्कारवत्तियाए, सम्माण-वत्तियाए, बोहि-लाभवत्तियाए, निरुवसग्गवत्तियाए ॥

अन्वयार्थ—'अरिहंतचेइयाणं' श्रीअरिहंत के चैत्यों के अर्थात् बिम्बों के 'वंदणवत्तियाए' वन्दन के निमित्त 'पूअण-वत्तियाए' पूजन के निमित्त 'सक्कारवत्तियाए' सत्कार के निमित्त [और] 'सम्माणवत्तियाए' सम्मान के निमित्त [तथा] 'बोहिलाभवत्तियाए' सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त 'निरुव-सग्गवत्तियाए' मोक्ष के निमित्त 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ॥ २ ॥

---

* अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं ॥१॥ वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं, सत्कारप्रत्ययं, सम्मानप्रत्ययं, बोधिलाभप्रत्ययं, निरुपसर्गप्रत्ययं ॥ २ ॥

सद्धाए, मेहाए, धिईए, धारणाए, अणुप्पेहाए, वड्ढमाणीए, ठामि काउस्सग्गं ॥

अन्वयार्थ—'वड्ढमाणीए' बढ़ती हुई 'सद्धाए' श्रद्धा से 'मेहाए' बुद्धि से; 'धिईए' धृति से अर्थात् विशेष प्रीति से 'धारणाए' धारणा से अर्थात् स्मृति से 'अणुप्पेहाए' अनुप्रेक्षा से अर्थात् तत्व-चिंतन से 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—अरिहंत भगवान् की प्रतिमाओं के वन्दन, पूजन, सत्कार, और सम्मान करने का अवसर मिले तथा वन्दन आदि द्वारा सम्यक्त्व और मोक्ष प्राप्त हो इस उद्देश्य से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

बढ़ती हुई श्रद्धा, बुद्धि, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

२०—कल्लाणकंदं स्तुति ।

* कल्लाणकंदं पढमं जिणिंदं,
संतिं तओ नेमिजिणं मुणिंदं ।

---

† श्रद्धया, मेधया, धृत्या, धारणया, अनुप्रेक्षया, वर्द्धमानया, तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ॥ २ ॥

* कल्याणकन्दं प्रथमं जिनेन्द्रं, शान्तिं ततो नेमिजिनं मुनीन्द्रम् ।
पार्श्वम् प्रकाशं सुगुणैकस्थानं, भक्त्या वन्दे श्रीवर्द्धमानम् ॥१॥

पासं पयासं सुगुणिकठाणं,
भत्तीइ वन्दे सिरिवद्ध माणं ॥१॥

अन्वयार्थ—' कल्लाणकन्दं ' कल्याण के मूल ' पढमं ' प्रथम ' जिणिंदं ' जिनेन्द्र को ' संतिं ' श्रीशान्तिनाथ को, ' मुणिंदं ' मुनियों के इन्द्र ' नेमिजिणं ' श्रीनेमिनाथ को, ' पयासं ' प्रकाश फैलाने वाले ' पासं ' श्रीपार्श्वनाथ को ' तओ ' तथा ' सुगुणिकठाणं ' सद्गुण के मुख्य स्थान-भूत ' सिरिवद्ध-माणं ' श्रीबर्द्धमान स्वामी को 'भत्तीइ' भक्ति पूर्वक 'वंदे' वन्दन करता हूँ ।

भावार्थ—[कुछ तीर्थङ्करों की स्तुति] कल्याण के कारण प्रथम जिनेश्वर श्रीआदिनाथ, श्रीशान्तिनाथ, मुनिओं में श्रेष्ठ श्रीनेमिनाथ, अज्ञान दूर कर ज्ञान के प्रकाश को फैलाने वाले श्रीपार्श्वनाथ और सद्‌गुणों के मुख्य आश्रय-भूत श्रीमहावीर इन पाँच तीर्थङ्करों को मैं भक्ति पूर्वक वन्दन करता हूँ ॥१॥

* अपारसंसारसमुद्दपारं,
पत्ता सिवं दिन्तु सुइक्कसारं ।
सव्वे जिणिंदा सुरविंदवंदा,
कल्लाणवल्लीण विसालकंदा ॥२॥

---

* अपारसंसारसमुद्रपारं प्राप्ता शिवं ददतु शुच्येकसारम् ।
सर्वे जिनेन्द्राः सुरवृन्दवन्द्याः कल्याणवल्लीनां विशालकन्दाः ॥२॥

अन्वयार्थ—'अपारसंसारसमुद्दपारं' संसार रूप अपार समुद्र के पार को 'पत्ता' पाये हुए, 'सुरविंदवंदा' देवगण के भी वन्दन योग्य, 'कल्लाणवल्लीण' कल्याण रूप लताओं के 'विसाल कंदा' विशाल कन्द 'सव्वे' सब 'जिणिंदा' जिनेन्द्र 'सुइक-सारं' पवित्र वस्तुओं में विशेष सार रूप 'सिवं' मोक्ष को 'दिंतु' देवें ॥२॥

भावार्थ—[सब तीर्थङ्करों की स्तुति] संसार समुद्र के पार पहुँचे हुए, देवगण के भी वन्दनीय और कल्याण-परंपरा के प्रधान कारण ऐसे सकल जिन मुझ को परम पवित्र मुक्ति देवें ॥२॥

† निव्वाणमग्गेवरजाणकप्पं,
पणासियासेसकुवाइदप्पं ।
मयं जिणाणं सरणं बुहाणं,
नमामि निच्चं तिजगप्पहाणं ॥३॥

अन्वयार्थ—'निव्वाणमग्गे' मोक्ष-मार्ग के विषय में 'वर-जाणकप्पं' श्रेष्ठ वाहन के समान 'पणासियासेसकुवाईदप्पं' समस्त कदाग्रहियों के घमंड को तोड़ने वाले, 'बुहाणं' पण्डितों के लिये 'सरणं' आश्रय भूत और 'तिजगप्पहाणं' तीन जगत् में प्रधान ऐसे 'जिणाणंमयं' जिनेश्वरों के मत को

---

† निर्वाण-मार्गे वरयानकल्पं प्रणाशिताऽशेषकुवादिदर्पम् ।
मतं जिनानां शरणं बुधानां नमामि नित्यं त्रिजगत्प्रधानम् ॥ ३ ॥

सिद्धान्त को 'निचं' नित्य 'नमामि' नमन करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[सिद्धान्त की स्तुति] जो मोक्ष मार्ग पर चलने के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन, साम्यग्ज्ञान और सम्मक् चरित्र का आराधन करने के लिये वाहन के समान प्रधान साधन है, जो मिथ्यावादियों के घमंड को तोड़ने वाला है और जो तीन लोक में श्रेष्ठ तथा विद्वानों का आधार भूत है, उस जैन सिद्धान्त को मै नित्य प्रति नमन करता हूँ ॥ ३ ॥

* कुंदिंदुगोक्खीरतुसारवन्ना, सरोजहत्था कमले निसन्ना।
वाएसिरी पुत्थयवग्गहत्था, सुहाय सा अम्ह सया पसत्था ॥४॥

अन्वयार्थ—'कुंदिंदुगोक्खीरतुसारवन्ना' मोगरा के फूल, चन्द्र, गाय के दूध और बर्फ के समान वर्णवाली अर्थात् श्वेत, 'सरोजहत्था' हाथ में कमल धारण करने वाली 'कमले' कमल पर 'निसन्ना' बैठने वाली 'पुत्थयवग्गहत्था' हाथ में पुस्तकें धारण करने वाली [ऐसी] 'पसत्था' प्रशस्त-श्रेष्ठ 'सा' वह-प्रसिद्ध 'वाएसिरि' वागीश्वरी-सरस्वती देवी 'सया' हमेशा 'अम्ह' हमारे 'सुहाय' सुख के लिये हो ॥ ४ ॥

---

* कुन्देन्दुगोक्षीरतुषारवर्णा सरोजहस्ता कमले निषण्णा वागीश्वरी पुस्तकवर्गहस्ता सुखाय सा नः सदा प्रशस्ता ॥ ४ ॥

भावार्थ—[श्रुतदेवता की स्तुति] जो वर्ण में कुन्द के फूल, चन्द्र, गो-दुग्ध, तथा बर्फ के समान सफ़ेद है, जो कमल पर बैठी हुई है और जिसने एक हाथ में कमल तथा दूसरे हाथ में पुस्तकें धारण की हैं, वह सरस्वती देवी सदैव हमारे सुख के लिये हो ॥ ४ ॥

२१—संसार-दावानल स्तुति।[1]

संसारदावानलदाहनीरं, संमोहधूलीहरणेसमीरं ।
मायारसादारणसारसीरं, नमामि वीरं गिरिसारधीरं ॥१॥

अन्वयार्थ—'संसारदावानलदाहनीरं' संसार रूप दावानल के दाह के लिये पानी के समान, संमोह-धूली-हरणे-समीरं, मोह रूप धूल को हरने में पवन के समान 'मायारसा दारणसारसीरं' माया रूप पृथ्वी को खोदने में पैनें हल के समान [और] गिरिसारधीरं' पर्वत के तुल्य धीरज वाले 'वीरं' श्री महावीर स्वामी को 'नमामि' [मैं] नमन करता हूँ ॥ १ ॥

१—इस स्तुति की भाषा सम सँस्कृत-प्राकृत है।
अर्थात् यह स्तुति संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषा के श्लेष से रची हुई है।
इसको श्री हरिभद्रसूरिने रचा है जो आठवीं शताब्दी में हो गये हैं और जिन्होंने नन्दी, पन्नवणा आदि आगम की टीकाएँ तथा षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय आदि अनेक दार्शनिक स्वतन्त्र महान् ग्रन्थ लिखे हैं।

भावार्थ—[श्रीमहावीर-स्तुति] मैं भगवान् महावीर को नमन करता हूं। जल जिस प्रकार दावानल के सन्ताप को शान्त करता है उसी प्रकार भगवान् संसार के सन्ताप को शान्त करते हैं, हवा जिस प्रकार धूलि को उड़ा देती है उसी प्रकार भगवान् भी मोह को नष्ट कर देते हैं; जिस प्रकार पैना हल पृथ्वी को खोद डालता है उसी प्रकार भगवान् माया को उखाड़ फेंकते हैं और जिस प्रकार सुमेरु चलित नहीं होता उसी प्रकार अति धीरज के कारण भगवान् भी चलित नहीं होते ॥ १ ॥

भावावनामसुरदानवमानवेन,
चूलाविलोलकमलावलिमालितानि ।
संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि,
कामं नमामि जिनराज-पदानि तानि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'भावावनाम' भाव पूर्वक नमन करने वाले 'सुरदानवमानवेन' देव, दानव और मनुष्य के स्वामियों के 'चूलाविलोलकमलावलिमालितानि' मुकुटों में वर्तमान चञ्चल कमलों की पङ्क्ति से सुशोभित, [और] 'संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि' नमे हुए लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, 'तानि' प्रसिद्ध 'जिनराज-पदानि' जिनेश्वर के चरणों को 'कामं' अत्यन्त 'नमामि' नमन करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—[सकल-जिन की स्तुति] भक्ति पूर्वक नमन करने वाले देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रों के मुकुटों को कोमल

कमल-मालाओं से जो शोभायमान हैं, और भक्त लोगों की कामनाएँ जिन के प्रभाव से पूर्ण होती हैं, ऐसे सुन्दर और प्रभावशाली जिनेश्वर के चरणों को मैं अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक नमन करता हूँ ॥२॥

बोधागाधं सुपदपदवीनीरपूराभिरामं ।
जीवाहिंसाऽविरललहरीसंगमागाहदेहं ॥
चूलावेलं गुरुगममणीसंकुलं दूरपारं ।
सारं वीरागमजलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'बोधागाधं' ज्ञान से अगाध–गम्भीर, 'सुपद-पदवीनीरपूराभिरामं' सुन्दर पदों की रचनारूप जल-प्रवाह से मनोहर, 'जीवाहिंसाऽविरललहरीसङ्गमागाहदेहं' जीवदया-रूप निरन्तर तरङ्गों के कारण कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, 'चूला-वेलं' चूलिका रूप तटवाले 'गुरुगममणीसंकुलं' बड़े बड़े आलावा रूप रत्नों से व्याप्त [और] 'दूरपारं' जिसका पार पाना कठिन है [ऐसे] 'सारं' श्रेष्ठ 'वीरागमजलनिधिं' श्री-महावीर के आगम-रूप समुद्र की [मैं] 'सादरं' आदर-पूर्वक 'साधु' अच्छी तरह 'सेवे' सेवा करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[आगम-स्तुति] इस श्लोक के द्वारा समुद्र के साथ समानता दिखा कर आगम की स्तुति की गई है।

जैसे समुद्र गहरा होता है वैसे जैनागम भी अपरिमित ज्ञान वाला होने के कारण गहरा है। जल की प्रचुरता के कारण जिस प्रकार समुद्र सुहावना मालूम होता है वैसे ही

ललित पदों की रचना के कारण आगम भी सुहावना हैं। लगातार बड़ी बड़ी तरङ्गों के उठते रहने से जैसे समुद्र में प्रवेश करना कठिन है वैसे ही जीवदया-सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों से परिपूर्ण होने के कारण आगम में भी प्रवेश करना अति कठिन है। जैसे समुद्र के बड़े बड़े तट होते हैं वैसे ही आगम में भी बड़ी बड़ी चूलिकाएँ[1] हैं। जिस प्रकार समुद्र में मोती मूंगे आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ होती हैं इस प्रकार आगम में भी बड़े बड़े उत्तम गम[2]—आलावे, (सदृश पाठ) हैं। तथा जिस प्रकार समुद्र का पार-सामना किनारा-बहुत ही दूरवर्ती होता है वैसे ही आगम का भी पार-पूर्ण रीति से मर्म-समझना-दूर (अत्यन्त मुश्किल) है। ऐसे आगम की मैं आदर तथा विधिपूर्वक सेवा करता हूँ ॥३॥

आमूलालोलधूलीबहुलपरिमलालीढलोलालिमाला-
झङ्कारारावसारामलदलकमलागारभूमिनिवासे !।

१-चूलिका का पर्याय अर्थात् दूसरा नाम उत्तर-तन्त्र है। शास्त्र के उस हिस्से को उत्तर-तन्त्र कहते हैं जिस में पूर्वार्ध में कहे हुए और नहीं कहे हुए विषयों का संग्रह हो दशवैकालिक नि० गा० ३५९ पृ. २६९, आचाराङ्ग टीका पृ० ६८ नन्दि-वृत्ति पृ. २०६)

२-गम के तीन अर्थ देखे जाते हैं:-(१) सदृश पाठ (विशेषावश्यक भाष्य गाथा० ५४८) (२) एक सूत्र से होने वाले अनेक अर्थ बोध (३) एक सूत्र के विविध व्युत्पत्तिलभ्य अनेक अर्थ और अन्वय (नन्दि-वृत्ति पृ०२११-२१२।

छाया-संभार सारे! वरकमलकरे! तारहाराभिरामे!,
वाणीसंदोहदेहे! भवविरहवरं देहि मे देवि! सारम्॥४॥

अन्वयार्थ—'धूलीबहुलपरिमला' रज-पराग से भरी हुई सुगन्धि में 'आलीढ' मग्न [और] लोल चपल [ऐसी] 'अलि-माला' भौंरों की श्रेणियों की 'झङ्कार', गूँज के 'आराव' शब्द से 'सारं' श्रेष्ठ [तथा] 'आमूल' जड़ से लेकर 'आलोल' चञ्चल [ऐसे] 'अमलदल-कमल' स्वच्छ पत्र वाले कमल पर स्थित [ऐसे] 'अगारभूमि-निवासे' गृह की भूमि में निवास करने वाली 'छायासंभारसारे' कान्ति-पुञ्ज से शोभायमान 'दरवमल-करे' हाथ में उत्तम कमल को धारण करने वाली 'तार-हाराभिरामे' स्वच्छहार से मनोहर [और] 'वाणीसदोहदेहे' बारह अङ्ग रूप वाणी ही जिसका शरीर है ऐसी देवि—हेश्रुतदेवि! 'मे' मुझ को 'सारं' सर्वोत्तम 'भवविरहवरं' संसार विरह—मोक्ष-का वरं 'देहि' दे॥ ४॥

भावार्थ—[श्रुतदेवी की स्तुति] जल के कल्लोल से मूल-पर्यन्त कंपायमान तथा पराग की सुगन्ध से मस्त हो कर चारों तरफ गूंजते रहने वाले भौंरों से शोभायमान ऐसे मनोहर कमल-पत्र के ऊपर आये हुए भवन में रहने वाली, कान्ति के समूह से दिव्य रूप को धारण करने वाली, हाथ में सुन्दर कमल को रखने वाली, गले में पहने हुये भव्य हार से दिव्य-

स्वरूप दिखाईदेने वाली, और द्वादशाङ्गी वाणी[1] की अधिष्ठात्री हे श्रुत देवि ! तू मुझे संसार से पार होने का वरदान दे ॥४॥

२२—पुक्खर-वर-दीवड्ढे सूत्र ।

* पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे अ जंबुदीवे अ ।
भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥

अन्वयार्थ—'जंबुदीवे' जम्बूद्वीप के 'धायइसंडे' धातकी-खण्ड के 'अ' तथा 'पुक्खरवरदीवड्ढे' अर्ध पुष्करवर-द्वीप के 'भरहेरवयविदेहे' भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में 'धम्माइगरे' धर्म की आदि करने वालों को [मैं] 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और अर्ध पुष्करवर-द्वीप के भरत, ऐरवत, महाविदेह क्षेत्र में धर्म की प्रवृत्ति करने वाले तीर्थङ्करों को मैं नमस्कार करता हूँ । ॥१॥

१—१ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्या-प्रज्ञप्ति-भगवती, ६ ज्ञाता-धर्मकथा, ७ उपासकदशाङ्ग, ८ अन्तकृत्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद, ये बारह अङ्ग कहलाते हैं । इन अङ्गों की रचना तीर्थङ्कर भगवान् के मुख्य शिष्य जो गणधर कहलाते हैं वे करते हैं। इन अङ्गों में गूंथी गई भगवान् की वाणी को 'द्वादशाङ्गी वाणी' कहते हैं ।

* पुष्करवरद्वीपार्धे धातकीषण्डे च जम्बूद्वीपे च ।
भरतैरवतविदेहे धर्मादिकरान्नमस्यामि ॥१॥

[तीन गाथाओं में श्रुत की स्तुति]

* तम-तिमिर-पडल-विद्धं-
सणस्स सुर-गणनरिंदमहियस्स ।
सीमाधरस्स वंदे,
पप्फोडिअ-मोह-जालस्स ॥२॥

अन्वयार्थ—'तमतिमिरपडलविद्धसणस्स' अज्ञानरूप अन्धकार के परदे का नाश करने वाले 'सुरगणनरिंदमहियस्स' देवगण और राजों के द्वारा पूजित, 'सीमाधरस्स' मर्यादा को धारण करने वाले [और] 'पप्फोडिअ-मोह-जालस्स' मोह के जाल को तोड देने वाले [श्रुत को] 'वंदे' में वन्दन करता हूँ ॥२॥

† जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स ।
कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ॥
को देवदाणवनरिंदगणच्चियस्स ।
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अन्वयार्थ—'जाइजरामरणसोगपणासणस्स' जन्म, जरा, मरण और शोक को मिटाने वाले 'कल्लाणपुक्खल-

* तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्य सुरगणनरेन्द्रमहितस्य ।
सीमाधरस्य वन्दे प्रस्फोटितमोहजालस्य ॥२॥

† जातिजरामरणशोकप्रणाशनस्य ।
कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्य ॥
को देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य ।
धर्मस्य सारमुपलभ्य [illegible]ति [illegible]दम ॥३॥

विसालसुहावहस्स' कल्याणकारी और परम उदार सुख अर्थात् मोक्ष को देने वाले 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' देवगण, दानवगण, और नरपतिगण के द्वारा पूजित, [ऐसे] 'धम्मस्स' धर्म के 'सारं' सार को 'उवलब्भ' पा कर 'पमाय' प्रमाद 'को' कौन 'करे' करेगा ? ॥३॥

† सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे ।
देवंनागसुवन्नकिंनरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं ।
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥४॥

अन्वयार्थ—'भो' हे भव्यों ! [मैं] 'पयओ' बहुमानयुक्त हो कर 'सिद्धे' प्रमाण भूत 'जिणमये' जिनमत-जिन-सिद्धान्त को 'णमो' नमस्कार करता हूँ [जिस सिद्धान्त से] 'देवं-नाग-सुवन्न किन्नरगण' देवों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और किन्नरों के समूह द्वारा 'स्सब्भूअभावच्चिए' शुद्ध भावपूर्वक अर्चित

---

† सिद्धाय भोः ! प्रयतो नमो जिनमताय नन्दिः सदा संयमे ।
देवनागसुवर्णकिन्नरगणसद्भूतभावार्चिते ॥
लोको यत्र प्रतिष्ठितो जगदिदं त्रैलोक्यमर्त्यासुरं ।
धर्मो वर्धतां शाश्वतो विजयतां धर्मोत्तरं वर्धतां ॥४॥

१—ये भवनपति निकाय के देव-विशेष हैं । इन के गहनों में साँप का चिह्न है और वर्ण इन का सफ़ेद है ॥

२—ये भी भवनपति जाति के देव हैं इन के गहनों में गरुड़ का चिह्न और वर्ण इन का सुवर्ण की तरह गौर है ।(बृहत्संग्रहणी गा०४२–४४)।

३—ये व्यन्तर जाति के देव हैं । चिह्न इन का अशोक वृक्ष है जो

[ऐसे] 'संजमे' संयम में 'सया' सदा 'नंदी' वृद्धि होती है [तथा] 'जत्थ' जिस सिद्धान्त में 'लोगो' ज्ञान [और] 'तेलुक्कमच्चासुरं' मनुष्य असुरादि तीन लोकरूप 'इणं' यह 'जगं' जगत् 'पइट्ठिओ' प्रतिष्ठित है । [वह]'सासओ' शाश्वत 'धम्मो' धर्म–श्रुतधर्म 'विजयओ' विजय-प्राप्ति द्वारा 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे [और इस से] 'धम्मुत्तरं' चारित्र-धर्म भी 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे ॥४॥

भावार्थ—मैं श्रुत धर्म को वन्दन करता हूँ; क्यों कि यह अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करता है, इस की पूजा नृपगण तथा देवगण तक ने की है, यह सब को मर्यादा में रखता है और इस ने अपने आश्रितों के मोह जाल को तोड़ दिया है ॥२॥

जो जन्म जरा मरण और शोक का नाश करने वाला है जिस के आलम्बन से मोक्ष का अपरिमित सुख प्राप्त किया जा सकता है, और देवों, दानवों तथा नरपतियों नें जिस की पूजा की है ऐसे श्रुतधर्म को पाकर कौन बुद्धिमान् गाफ़िल रहेगा ? कोई भी नहीं ॥३॥

जिस का बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और देवों तक ने यथार्थ भक्ति पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिन-कथित सिद्धान्त से ही होती है । सब प्रकार का ज्ञान भी

ध्वज में होता है । वर्ण प्रियङ्गु वृक्ष के समान• है । (बृहत्संग्रहणी गा• ५८, ६१-६२)

जिनोक्त सिद्धान्त में ही नि सन्देह रीति से वर्तमान है । जगत के मनुष्य असुर आदि सब प्राणिगण जिनोक्त सिद्धान्त में ही युक्ति प्रमाण पूर्वक वर्णित हैं । हे भव्यों ! ऐसे नय प्रमाण सिद्ध जैन सिद्धान्त को मैं आदर साहित नमस्कार करता हूँ । वह शाश्वत सिद्धान्त उन्नत होकर एकान्त वाद पर विजय प्राप्त करे, और इस से चारित्र धर्म की भी वृद्धि हो ॥

सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण-वत्तियाए इत्यादि० ॥

अर्थ—मैं श्रुत धर्म के वन्दन आदि निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ ।

२३—सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र ।

[सिद्ध की स्तुति]

* सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं ।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥

१—इस सूत्र की पहली तीन ही स्तुतिओं की व्याख्या श्रीहरिभद्रसूरि ने की है, पिछली दो स्तुतिओं की नहीं । इस का कारण उन्होंने यह बतलाया है कि "पहली तीन स्तुतियाँ नियम पूर्वक पढ़ी जाती हैं, पर पिछली स्तुतियाँ नियम पूर्वक नहीं पढ़ी जातीं । इसलिये इन का व्याख्यान नहीं किया जाता" (आवश्यक टीका पृ० ७९९, ललितविस्तरा पृ०११२) ।

* सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः पारगतेभ्यः परम्परागतेभ्यः ।
लोकाग्रमुपगतेभ्यो, नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः ॥१॥

अन्वयार्थ—'सिद्धाणं' सिद्धि पाये हुए 'बुद्धाणं' बोध पाये हुए 'पारगयाणं' पार पहुँचे हुए 'परंपरगयाणं' परंपरा से गुणस्थानों के क्रम से सिद्धि पद तक पहुँचे हुए 'लोअग्गं' लोक के अग्र भाग पर 'उवगयाणं' पहुँचे हुए 'सव्वसिद्धाणं' सब सिद्धजीवों को 'सया' सदा 'नमो' नमस्कार हो ॥१॥

भावार्थ—जो सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं, क्रमिक आत्म विकास द्वारा मुक्ति-पद पर्यन्त पहुँचे हुए हैं और लोक के ऊपर के भाग में स्थित हैं उन सब मुक्त जीवों को सदा मेरा नमस्कार हो ॥१॥

[महावीर की स्तुति]

* जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देवदेव-महिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'देवाणवि' देवों का भी 'देवो' देव है और 'जं' जिसको 'पंजली' हाथ जोड़े हुए 'देवा' देव 'नमंसंति' नमस्कार करते है 'देवदेवमहिअं' देवों के देव—इन्द्र द्वारा पूजित [ऐसे] 'तं' उस 'महावीरं' महावीर को 'सिरसा' सिर झुका कर 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥२॥

---

* यो देवानामपि देवो यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति ।
तं देवदेव-महितं शिरसा वन्दे महावीरम् ॥२॥

* इक्कोवि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥

अन्वयार्थ—'जिणवरवसहस्स' जिनों में प्रधान भूत 'वद्धमाणस्स' श्रीवर्द्धमान को [किया हुआ] 'इक्कोवि' एक भी 'नमुक्कारो' नमस्कार 'नरं' पुरुष को 'वा' अथवा 'नारिं' स्त्री को 'संसारसागराओ' संसाररूप समुद्र से 'तारेइ' तार देता है ॥३॥

भावार्थ—जो देवों का देव है, देवगण भी जिस को हाथ जोड़ कर आदर पूर्वक नमन करते हैं और जिस की पूजा इन्द्र तक करते हैं उस देवाधिदेव महावीर को सिर झुका कर मैं नमस्कार करता हूँ ।

जो कोई व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री भगवान् महावीर को एक बार भी भाव पूर्वक नमस्कार करता है वह संसार रूप अपार समुद्र को तर कर परम पद को पाता है ॥२॥ ॥३॥

[अरिष्टनेमि की स्तुति]

† उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥

---

* एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ।
संसारसागरात्तारयति नरं वा नारीं वा ॥३॥

† उज्जयन्तशैलशिखरे दीक्षा ज्ञानं नैषेधिकी यस्य ।
तं धर्मचक्रवर्तिनमरिष्टनेमिं नमस्यामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'उज्जितसेलसिहरे' उज्जयंत-गिरनार पर्वत के शिखर पर 'जस्स' जिस की 'दिक्खा' दीक्षा 'नाणं' केवल ज्ञान [और] 'निसीहिआ' मोक्ष हुए हैं 'तं' उस 'धम्मचक्क-वट्टिं' धर्मचक्रवर्ती 'अरिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि को 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥४॥

भावार्थ—जिस के दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक गिरिनार पर्वत पर हुए हैं, जो धर्मचक्र का प्रवर्त्तक है उस श्री नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥४॥

[२४ तीर्थङ्करों की स्तुति]

* चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५॥

अन्वयार्थ—'चत्तारि' चार 'अट्ठ' आठ 'दस' दस 'य' और 'दो' दो [कुल] 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणवरा' जिनेश्वर [जो] 'वंदिआ' वन्दित हैं, 'परमट्ठनिट्ठिअट्ठा' परमार्थ से कृतकृत्य हैं [और] 'सिद्धा' सिद्ध हैं वे 'मम' मुझको 'सिद्धिं' मुक्ति 'दिसंतु' देवें ॥५॥

भावार्थ—जिन्होंने परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त किया है और इससे जिनको कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है वे चौबीस जिनेश्वर मुझको सिद्धि प्राप्त करने में सहायक हों ।

१—देखो आवश्यकनिर्युक्ति गा० २२९-२३१, २५४, ३०७।

* चत्वारोऽष्टदश द्वौ च वन्दिता जिनवराश्चतुर्विंशतिः ।
परमार्थनिष्ठितार्थाः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥५॥

इस गाथा में चार, आठ, दस, दो इस क्रम से कुल चौबीस की संख्या बतलाई है इसका अभिप्राय यह है कि अष्टापद पर्वत पर चार दिशाओं में उसी क्रम से चौबीस प्रतिमाएँ विराजमान हैं ॥५॥

२४–वेयावच्चगराणं सूत्र ।

* वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० इत्यादि० ॥

अन्वयार्थ—'वेयावच्चगराणं' वैयावृत्यकरनेवाले के 'संतिगराणं' शान्ति करने वाले [और] 'सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं' सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि पहुँचाने वाले [ऐसे देवों की आराधना के निमित्त] 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ।

भावार्थ—जो देव, शासन की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं, जो सब जगह शान्ति फैलाने वाले हैं और जो सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुँचाने वाले हैं उनकी आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

---

* वैयावृत्यकराणां शान्तिकराणां सम्यग्दृष्टिसमाधिकराणां करोमि कायोत्सर्गम् ॥

२५–भगवान् आदि को वन्दन।

* भगवानहं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं।

अर्थ—भगवान् को, आचार्य को, उपाध्याय को, और अन्य सब साधुओं को नमस्कार हो।

२६–देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं।

इच्छाकारेण संदिसह भगवं देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं ? इच्छं।

† सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ मिच्छा मि दुक्कडं।

अन्वयार्थ—'देवसिअ' दिवस-सम्बन्धी 'सव्वस्सवि' सभी 'दुच्चिंतिअ' बुरे चिंतन 'दुब्भासिअ' बुरे भाषण और 'दुच्चिट्ठिअ' बुरी चेष्टा से 'मि' मुझे [जो] 'दुक्कडं' पाप [लगा वह] 'मिच्छा' मिथ्या हो।

भावार्थ—दिवस में मैंने बुरे विचार से, बुरे भाषण से और बुरे कामों से जो पाप बांधा वह निष्फल हो।

---

* भगवद्भ्यः, आचार्येभ्यः, उपाध्यायेभ्यः, सर्वसाधुभ्यः।

१—'भगवानहं' आदि चारों पदों में जो 'हं' शब्द है वह अपभ्रंश भाषा के नियमानुसार छठी विभक्ति का बहुवचन है और चौथी विभक्ति के अर्थ में आया है।

† सर्वस्याऽऽपि दैवसिकस्य दुश्चिन्तितस्य दुर्भाषितस्य दुश्चेष्टितस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्।

२७—इच्छामि ठाइउं सूत्र ।

‡ इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं ।

अन्वयार्थ—'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठाइउं' करने को 'इच्छामि' चाहता हूँ ।

* जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग-पाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए; तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हमणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं—बारसविहस्स सावगधम्मस्स—जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान में 'दंसणे' दर्शन में 'चारित्ताचरित्ते' देश विरति में 'सुएँ' श्रुत-धर्म में [और] 'सामाइए' सामायिक में 'देवसिओ' दिवस-सम्बन्धी 'काइओ' कायिक 'वाइओ' वाचिक

---

‡ इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गम् ।

१—'ठामि' यह पाठान्तर प्रचलित है किन्तु आवश्यकसूत्र पृ॰ ७७८ पर 'ठाइउं' पाठ है जो अर्थ-दृष्टि से विशेष सङ्गत मालूम होता है ।

* यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, कायिको वाचिको मानसिक उत्सूत्र उन्मार्गोऽकल्प्योऽकरणीयो दुर्ध्यातो दुर्विचिन्तितोऽनाचारोऽनेष्टव्योऽश्रावक प्रयोग्यो ज्ञाने दर्शने चारित्राचारित्रे श्रुते सामायिके; तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायाणां पञ्चानामणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानां द्वादश-विधस्य श्रावकधर्मस्य यत् खण्डितं यद्विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

[और] 'माणसिओ' मानसिक 'उस्सुत्तो' शास्त्रविरुद्ध 'उम्मग्गो' मार्ग विरुद्ध 'अकप्पो' आचार-विरुद्ध 'अकरणिज्जो' नहीं करने योग्य 'दुज्झाओ' दुर्ध्यान—आर्त-रौद्र ध्यान—रूप 'दुव्विचिंतिओ' दुश्चिन्तित—अशुभ 'अणायारो' नहीं आचरने योग्य 'अणिच्छिअव्वो' नहीं चाहने योग्य 'असावग-पाउग्गो' श्रावक को नहीं करने योग्य 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार 'मे' मैंने 'कओ' किया [उस का पाप मेरे लिये मिथ्या हो; तथा] 'तिण्हं गुत्तीणं' तीन गुप्तिओं की [और] 'पंचण्हमणुव्वयाणं' पाँच अणुव्रत 'तिण्हं-गुणव्वयाणं' तीन गुणव्रत 'चउण्हं सिक्खावयाणं' चार शिक्षाव्रत [इस तरह] 'बारसविहस्स' बारह प्रकार के 'सावगधम्मस्स' श्रावक धर्म की 'चउण्ह कसायाण' चार कषायों के द्वारा 'जं' जो 'खंडिअं' खण्डना की हो [या] 'जं' जो 'विराहिअं' विराधना की हो 'तस्स' उसका 'दुकड' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ॥

भावार्थ—मैं काउस्सग्ग करना चाहता हूँ; परन्तु इसके पहिले मैं इस प्रकार दोष की आलोचना कर लेता हूँ। ज्ञान, दर्शन, देशविरति-चारित्र, श्रुतधर्म और सामायिक के विषय में मैंने दिन में जो कायिक वाचिक मानसिक अतिचार सेवन किया हो उस का पाप मेरे लिये निष्फल हो। मार्ग अर्थात् परंपरा विरुद्ध तथा कल्प अर्थात् आचार-विरुद्ध प्रवृत्ति करना कायिक अतिचार है दुर्ध्यान या अशुभ चिन्तन करना मानसिक अति-

चार है । सब प्रकार के अतिचार अकर्तव्य रूप होने के कारण आचरने व चाहने योग्य नहीं हैं, इसी कारण उन का सेवन श्रावक के लिये अनुचित है ।

तीन गुप्तिओं का तथा बारह प्रकार के श्रावक धर्म का मैंने कषायवश जो देशभङ्ग या सर्वभङ्ग किया हो उस का भी पाप मेरे लिये निष्फल हो ।

२८—आचार की गाथायें ।

[पाँच आचार के नाम]

* नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणंमि तवम्मि तह य विरियम्मि ।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥१॥

अन्वयार्थ—'नाणम्मि' ज्ञान के निमित्त 'दंसणम्मि' दर्शन-

१—यद्यपि ये गाथायें 'अतिचार की गाथायें' कहलाती हैं, तथापि इन में कोई अतिचार का वर्णन नहीं है; सिर्फ आचार का वर्णन है. इसलिये 'आचार की गाथायें' यह नाम रक्खा गया है ।

'अतिचार की गाथायें' ऐसा नाम प्रचलित हो जाने का सबब यह जान पड़ता है कि पाक्षिक अतिचार में ये गाथायें आती हैं और इन में वर्णन किये हुए आचारों को लेकर उनके अतिचार का मिच्छा मि दुक्कडं दिया जाता है ।

* ज्ञाने दर्शने च चरणे, तपसि तथा च वीर्ये ।
आचरणमाचार इत्येष पञ्चधा भणितः ॥१॥

२—यही पाच प्रकार का आचार दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १८१ में वर्णित है ।

दंसणनाणचरित्ते तवआयारिसवीरियारे ।
एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो ॥

सम्यक्त्व के निमित्त 'अ' और 'चरणंमि' चारित्र के निमित्त 'तवम्मि' तप के निमित्त 'तह य' तथा 'विरियम्मि' वीर्य के निमित्त 'आयरणं आचरण करना 'आयारो' आचार है 'इअ' इस प्रकार से—विषयभेद से 'एसो' यह आचार 'पंचहा' पाँच प्रकार का 'भणिओ' कहा है ॥१॥

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य के निमित्त अर्थात् इन की प्राप्ति के उद्देश्य से जो आचरण किया जाता है, वही आचार है। पाने योग्य ज्ञान आदि गुण मुख्यतया पाँच हैं इस लिये आचार भी पाँच प्रकार का माना जाता है ॥१॥

[ज्ञानाचार के भेद]

* काले विणए बहुमाणे उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणं' ज्ञान का 'आयारो' आचार 'अट्ठविहो' आठ प्रकार का है जैसे 'काले' काल का 'विणए' विनय का 'बहुमाणे' बहुमान का 'उवहाणे' उपधान का 'अनिण्हवणे' अनिह्नव—नहीं छिपाने का 'वंजण' व्यञ्जन—अक्षर—का 'अत्थ' अर्थ का 'तह' तथा 'तदुभए' व्यञ्जन अर्थ दोनों का ॥२॥

भावार्थ—ज्ञान की प्राप्ति के लिये या प्राप्त ज्ञान की

---

* काले विनये बहुमाने, उपधाने तथा अनिह्नवने।
व्यञ्जनार्थतदुभये अष्टविधो ज्ञान-आचारः ॥२॥

रक्षा के लिये जो आचरण जरूरी है वह ज्ञानाचार कहलाता है। उस के स्थूल दृष्टि से आठ भेद हैं:—

(१) जिस जिस समय जो जो आगम पढने की शास्त्र में आज्ञा है उस उस समय उसे पढ़ना कालाचार है[1]।

(२) ज्ञानिओं का तथा ज्ञान के साधन-पुस्तक आदि का विनय करना विनयाचार है।

(३) ज्ञानियों का व ज्ञान के उपकरणों का यथार्थ आदर करना बहुमान है।

(४) सूत्रों को पढ़ने के लिये शास्त्रानुसार जो तप किया जाता है वह उपधान है।

(५) पढ़ाने वाले को नहीं छिपाना-किसीसे पढ़कर मैं इस से नहीं पढा इस प्रकार का मिथ्या भाषण नहीं करना-अनिह्नव है।

(६) सूत्र के अक्षरों का वास्तविक उच्चारण करना व्यञ्जनाचार है।

१—उत्तराध्ययन आदि कालिक श्रुत पढ़ने का समय दिन तथा रात्रि का पहला और चोथा प्रहर बतलाया गया है। आवश्यक आदि उत्कालिक सूत्र पढ़ने के लिये तीन संध्या रूप काल वेला छोड़ कर अन्य सब समय योग्य माना गया है।

(७) सूत्रका सत्य अर्थ करना अर्थाचार है ।

(८) सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना, समझना तदुभयाचार है ।

[दर्शनाचार के भेद]

*** निस्संकिय निकंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ।**
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥३॥

अन्वयार्थ—'निस्संकिय' निःशङ्कपन 'निकंखिय' काङ्क्षा रहितपन 'निव्वितिगिच्छा' निःसंदेहपन 'अमूढदिट्ठी' मोह-रहित दृष्टि 'उववूह' बढ़ावा—गुणों की प्रशंसा करके उत्साह बढ़ाना 'थिरीकरणे' स्थिर करना 'वच्छल्ल' वात्सल्य 'अ' और 'पभावणे' प्रभावना [ये] 'अट्ठ' आठ [दर्शनाचार है] ॥३॥

भावार्थ—दर्शनाचार के आठ भेद है। उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) श्रीवीतराग के वचन में शङ्काशील न बने रहना निःशङ्कपन है।

(२) जो मार्ग वीतराग-कथित नहीं है उस की चाह न रखना काङ्क्षारहितपन है।

---

* निःशङ्कितं निष्काङ्क्षितं, निर्विचिकित्साऽमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहः स्थिरीकरणं, वात्सल्यं प्रभावनाऽष्ट ॥ ३ ॥

(३) त्यागी महात्माओं के वस्त्र-पात्र उन की त्याग-वृत्ति के कारण मलिन हों तो उन्हें देख कर घृणा न करना या धर्म के फल में संदेह न करना निर्विचिकित्सा--निःसंदेहपन है ।

(४) मिथ्यात्वी के बाहरी ठाठ को देख कर सत्य मार्ग में डाँवाँडोल न होना अमूढ़दृष्टिता है ।

(५) सम्यक्त्व वाले जीव के थोड़े से गुणों की भी हृदय से सराहना करना और इस के द्वारा उसको धर्म-मार्ग में प्रोत्साहित करना उपबृंहण है ।

(६) जिन्होंने धर्म प्राप्त नहीं किया है उन्हें धर्म प्राप्त कराना या धर्म-प्राप्त व्यक्तियों को धर्म से चलित देख कर उस पर स्थिर करना स्थिरीकरण है ।

(७) साधर्मिक भाइयों का अनेक तरह से हित विचारना वात्सल्य है ।

(८) ऐसे कामों को करना जिनसे धर्म-हीन मनुष्य भी वीतराग के कहे हुए धर्म का सच्चा महत्त्व समझने लगें प्रभावना है ।

इनको दर्शनाचार इस लिये कहा है कि इनके द्वारा दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त होता है या प्राप्त सम्यक्त्व की रक्षा होती है ॥ ३ ॥

[चारित्राचार के भेद]

*** पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।**
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'पणिहाणजोगजुत्तो' प्रणिधानयोग से युक्त होना—योगों को एकाग्र करना 'चरित्तायारो' चारित्राचार 'होइ' है। 'एस' यह [आचार] 'पंचहिं' पाँच 'समिईहिं' समितिओं से [और] 'तीहिं' तीन 'गुत्तीहिं' गुप्तिओं से 'अट्ठविहो' आठ प्रकार का 'नायव्वो' जानना चाहिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रणिधानयोगपूर्वक—मनोयोग, वचनयोग, काययोग की एकाग्रतापूर्वक—संयम पालन करना चारित्राचार है। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये चारित्राचार के आठ भेद हैं; क्योंकि यही चारित्र साधने के मुख्य अङ्ग हैं और इन के पालन करने में योग की स्थिरता आवश्यक है ॥४॥

[तपआचार के भेद]

† बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥५॥

---

* प्रणिधानयोगयुक्तः, पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिर्गुप्तिभिः ।
एष चारित्राचारोऽष्टविधो भवति ज्ञातव्यः ॥४॥

† द्वादशविधेऽपि तपसि, साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदिष्टे ।
[illegible] जीवी [illegible] स तप-आचारः ॥५॥

अन्वयार्थ—'कुसलदिट्ठे' तीर्थङ्कर या केवली के कहे हुए 'सब्भिंतर-बाहिरे' आभ्यन्तर तथा बाह्य मिला कर 'बारसविहम्मि' बारह प्रकार के 'तवे' तप के विषय में 'अगिलाइ' ग्लानि—खेद—न करना [तथा] 'अणाजीवी' आजीविका न चलाना 'सो' वह 'तवायारो' तपआचार 'नायव्वो' जानना चाहिये ॥५॥

भावार्थ—तीर्थङ्करों ने तप के छह आभ्यन्तर और छह बाह्य इस प्रकार कुल बारह भेद कहे हैं । इनमें से किसी प्रकार का तप करने में कायर न होना या तप से आजीविका न चलाना अर्थात् केवल मूर्छा-त्याग के लिये तप करना तपआचार है ॥५॥

* अणसणमूणोअरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।
काय-किलेसो संली-णया य बज्झो तवो होइ ॥६॥

अन्वयार्थ—'अणसणं' अनशन 'ऊणोअरिया' ऊनोदरता 'वित्तीसंखेवणं' वृत्तिसंक्षेप 'रसच्चाओ' रस-त्याग 'काय-किलेसो' कायक्लेश 'य' और 'संलीणया' संलीनता 'बज्झो' बाह्य 'तवो' तप 'होइ' है ॥६॥

भावार्थ—बाह्य तप के नाम और स्वरूप इस तरह हैं:—

१—जैसे जैन शास्त्र में 'कुशल' शब्द का सर्वज्ञ ऐसा अर्थ किया गया है। वैसे ही योगदर्शन में उसका अर्थ सर्वज्ञ या चरमशरीरी व क्षीणक्लेश किया हुआ मिलता है । [योगदर्शन के पाद २ सूत्र ४ तथा २७ का भाष्य।]

* अनशनमूनोदरता, वृत्तिसंक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥६॥

(१) थोड़े या बहुत समय के लिये सब प्रकार के भोजन का त्याग करना अनशन है।

(२) अपने नियत भोजन-परिमाण से दो चार कौर कम खाना ऊनोदरता [ऊणोदरी] है।

(३) खाने, पीने, भोगने की चीजों के परिमाण को घटा देना वृत्ति-संक्षेप है।

(४) घी, दूध, आदि रस को या उसकी आसक्ति को त्यागना रस-त्याग है।

(५) कष्ट सहने के लिये अर्थात् सहनशील बनने के लिये केशलुञ्चन आदि करना कायक्लेश है।

(६) विषयवासनाओं को न उभारना या अङ्ग-उपाङ्गों की कुचेष्टाओं को रोकना संलीनता है।

ये तप बाह्य इसलिये कहलाते हैं कि इन को करने वाला मनुष्य बाह्य दृष्टि में—सर्व साधारण की दृष्टि में तपस्वी समझा जाता है ॥६॥

* पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥७॥

अन्वयार्थ—'पायच्छित्तं' प्रायश्चित्त 'विणओ' विनय

---

* प्रायश्चित्तं विनयो, वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि चाभ्यन्तरकस्तपो भवति ॥७॥

'वेयावच्चं' वैयावृत्य 'सज्झाओ' स्वाध्याय 'झाणं' ध्यान 'तहेव' तथा 'उस्सग्गो वि अ' उत्सर्ग भी 'अब्भिंतरओ' आभ्यन्तर 'तवो' तप 'होइ' है ॥७॥

भावार्थ—आभ्यन्तर तप के छह भेद नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) किये हुए दोष को गुरु के सामने प्रकट कर के उनसे पाप-निवारण के लिये आलोचना लेना और उसे करना प्रायश्चित्त है ।

(२) पूज्यों के प्रति मन वचन और शरीर से नम्र भाव प्रकट करना विनय है ।

(३) गुरु, वृद्ध, ग्लान आदि की उचित भक्ति करना अर्थात् अन्न-पान आदि द्वारा उन्हें सुख पहुँचाना वैयावृत्य है ।

(४) वाचना, पृच्छा, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा द्वारा शास्त्राभ्यास करना स्वाध्याय है ।

(५) आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ धर्म या शुक्ल ध्यान में रहना ध्यान है ।

(६) कर्म क्षय के लिये शरीर का उत्सर्ग करना अर्थात् उस पर से ममता दूर करना उत्सर्ग या कायोत्सर्ग है ।

ये तप आभ्यन्तर इसलिये माने जाते हैं कि इनका आचरण करने वाला मनुष्य सर्व साधारण की दृष्टि में तपस्वी नहीं समझा जाता है परन्तु शास्त्रदृष्टि से वह तपस्वी अवश्य है ॥७॥

[वीर्याचार का स्वरूप]

† अणिगूहिअ-बलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो ॥८॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'अणिगूहिअ-बलविरिओ' कायबल तथा मनोबल को बिना छिपाये 'आउत्तो' सावधान होकर 'जहुत्तं' शास्त्रोक्तरीति से 'परक्कमइ' पराक्रम करता है 'अ' और 'जहाथामं' शक्ति के अनुसार 'जुंजइ' प्रवृत्ति करता है [उसके उस आचरण को] 'वीरिआयारो' वीर्याचार 'नायव्वो' जानना ॥८॥

२९–सुगुरु-वन्दन सूत्रं ।

---

† अनिगूहितबलवीर्यः, पराक्रामति यो यथोक्तमायुक्तः ।
युङ्क्ते च यथास्थाम ज्ञातव्यो वीर्याचारः ॥८॥

१–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक—पर्यायज्येष्ठ—(आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११९५) ये पाँच सुगुरु हैं। इनको वन्दन करने के समय, यह सूत्र पढ़ा जाता है, इसलिये इसको 'सुगुरु-वन्दन' कहते हैं। इस के द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह उत्कृष्ट द्वादशावर्त्त-वन्दन है। खमासमण सूत्र द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह मध्यम थोभ-वन्दन कहा जाता है। थोभ-वन्दन का निर्देश आवश्यक निर्युक्ति गा० ११२७ में है। सिर्फ मस्तक नमा कर जो वन्दन किया जाता है वह जघन्य फिट्टा-वन्दन है। ये तीनों वन्दन गुरु-वन्दन-भाष्य में निर्दिष्ट हैं।

सुगुरु-वन्दन के समय २५ आवश्यक (विधान) रखने चाहिये, जिनके न रखने से वन्दन निष्फल हो जाता है; वे इस प्रकार हैं:–

*** इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए । अणुजाणह मे मिउग्गहं । निसीहि अहोकायं कायसंफासं । खमणिज्जो भे किलामो । अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ?**

' 'इच्छामि खमासमणो' से 'अणुजाणह' तक बोलने में दोनों बार आधा अङ्ग नमाना—यह दो अवनत, जनमते समय बालक की या दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी अर्थात् कपाल पर दो हाथ रख कर नम्र मुद्रा करना—यह यथाजात, 'अहोकायं', 'कायसंफासं', 'खमणिज्जो भे किलामो', 'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? 'जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? इस क्रम से छह छह आवर्त्त करने से दोनों वन्दन में बारह आवर्त्त (गुरु के पैर पर हाथ रख कर फिर सिर से लगाना यह आवर्त्त कहलाता है) अवग्रह में प्रविष्ट होने के बाद खामणा करने के समय शिष्य तथा आचार्य के मिलाकर दो शिरोनमन, इस प्रकार दूसरे वन्दन में दो शिरोनमन, कुल चार शिरोनमन, वन्दन करने के समय मन वचन और शरीर को अशुभ व्यापार से रोकने रूप तीन गुप्तियाँ 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' कह कर गुरु से आज्ञा पाने के बाद अवग्रह मे दोनों बार प्रवेश करना यह दो प्रवेश, पहला वन्दन कर के 'आवस्सिआए' यह कह कर अवग्रह से बाहर निकल जाना यह निष्क्रमण। कुल २५। आवश्यक निर्युक्ति गा० १२०२-४।

* इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितु यापनीयया नैषेधिक्या । अनुजानीत मे मितावग्रहं । निषिध्य (नैषेधिक्या प्रविश्य) अध कायं कायसंस्पर्शं (करोमि)। क्षमणीय. भवद्भिः क्लम । अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवता दिवसो व्यतिक्रान्तः ? यात्रा भवता ? यापनीयं च भवता ?

* खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं। आवस्सिआए पडिक्कमामि। खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

अन्वयार्थः—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'निसीहिआए' शरीर को पाप-क्रिया से हटा कर [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना 'इच्छामि' चाहता हूँ। [इस लिए] 'मे' मुझ को 'मिउग्गहं' परिमित अवग्रह की 'अणुजाणह' आज्ञा दीजिये। 'निसीहि' पाप-क्रिया को रोक कर के 'अहोकायं' [आपके] चरण का 'कायसंफासं' अपनी काया से—उत्तमाङ्ग से स्पर्श [करता हूं]। [मेरे छूने से] 'भे' आपको 'किलामो' बाधा हुई [वह] 'खमणिज्जो' क्षमा

---

* क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं व्यतिक्रमं। आवश्यक्या: प्रतिक्रामामि। क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किंचिन्मिथ्याकृतया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया (क्रोधयुक्तया) मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया अतिचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

के योग्य है ? 'भे' आप ने 'अप्पकिलंताणं' अल्प ग्लान अवस्था में रह कर 'दिवसो' दिवस 'बहुसुभेण' बहुत आराम से 'वइक्कंतो' विताया ? 'भे' आपकी 'जत्ता' सयम रूप यात्रा [निर्बाध है ?] 'च' और 'भे' आपका शरीर 'जवणिज्जं' मन तथा इन्द्रियों की पीडा से रहित है ?

'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'देवसिअं' दिवस-सम्बन्धी 'वइक्कमं' अपराध को 'खामेमि' खमाता हूँ [और] 'आवस्सिआए' आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ । 'खमासमणाणं' आप क्षमाश्रमण की 'देवसिआए' दिवस सम्बन्धिनी 'तित्तीसन्नयराए' तेतीस में से किसी भी 'आसायणाए' आशातना के द्वारा [और] 'जं किंचि मिच्छाए' जिस किसी मिथ्याभाव से की हुई 'मणदुक्कडाए' दुष्ट मन से की हुई 'वयदुक्कडाए' दुर्वचन से की हुई 'कायदुक्कडाए' शरीर की दुष्ट चेष्टा से की हुई 'कोहाए' क्रोध से की हुई 'माणाए' मान से की हुई 'मायाए' माया से की हुई 'लोभाए' लोभ से की हुई 'सव्वकालिआए' सर्वकाल-सम्बन्धिनी 'सव्वमिच्छोवयाराए' सब प्रकार के मिथ्या उपचारों से पूर्ण 'सव्वधम्माइक्कमणाए' सब प्रकार के धर्म का उल्लङ्घन करनेवाली 'आसायणाए' आशातना के द्वारा 'मे' मैंने 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार 'कओ' किया 'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'तस्स' उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ 'निंदामि' उसकी

निन्दा करता हूँ 'गरिहामि' विशेष निन्दा करता हूँ [और अब] 'अप्पाण' आत्मा को 'वोसिरामि' पाप-व्यापारों से हटा लेता हूँ।

भावार्थ—हे क्षमाश्रमण गुरो ! मैं शरीर को पाप प्रवृत्ति से अलग कर, यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ। (इस प्रकार शिष्य के पूछने पर यदि गुरु अस्वस्थ हों तो 'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं जिसका मतलब संक्षिप्त रूप से वन्दन करने की आज्ञा समझी जाती है। जब गुरु की ऐसी इच्छा मालूम दे तब तो शिष्य संक्षेप ही से वन्दन कर लेता है। परन्तु यदि गुरु स्वस्थ हों तो 'छंदसा' शब्द कहते हैं जिसका मतलब इच्छानुसार वन्दन करने की संमति देना माना जाता है। तब शिष्य प्रार्थना करता है कि) मुझ को अवग्रह में—आप के चारों ओर शरीर-प्रमाण क्षेत्र में—प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। ('अणुजाणामि' कह कर गुरु आज्ञा देवें तब शिष्य 'निसीहि' कहता है अर्थात् वह कहता है कि) मैं 'अन्य' व्यापार को छोड अवग्रह में प्रवेश कर विधिपूर्वक बैठता हूँ। (फिर वह गुरु से कहता है कि आप मुझको आज्ञा दीजिये कि मैं) अपने मस्तक से आपके चरण का स्पर्श करूँ। स्पर्श करने में मुझ से आपको कुछ बाधा हुई उसे क्षमा कीजिये। क्या आपने अल्पग्लान अवस्था में रह कर अपना दिन बहुत कुशलपूर्वक व्यतीत किया ? (उक्त प्रश्न का उत्तर गुरु 'तथा' कह कर देते हैं; फिर शिष्य पूछता है कि) आप की तप-संयम

यात्रा निर्बाध है ? (उत्तर में गुरु 'तुब्भंपि वट्टइ' कह कर शिष्य से उस की संयम-यात्रा की निर्विघ्नता का प्रश्न करते हैं । शिष्य फिर गुरु से पूछता है कि) क्या आप का शरीर सब विकारों से रहित और शक्तिशाली है ? (उत्तर में गुरु 'एवं' कहते हैं)

(अब यहा से आगे शिष्य अपने किये हुए अपराध की क्षमा माँग कर आतिचार का प्रतिक्रमण करता हुआ कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो ! मुझ से दिन में या रात में आपका जो कुछ भी अपराध हुआ हो उस की मैं क्षमा चाहता हूँ । (इसके बाद गुरु भी शिष्य से अपने प्रमाद-जन्य अपराध की क्षमा माँगते हैं । फिर शिष्य प्रणाम कर अवग्रह से बाहर निकल आता है; बाहर निकलता हुआ यथास्थित भाव को क्रिया द्वारा प्रकाशित करता हुआ वह 'आवस्सिआए' इत्यादि पाठ कहता है ।) आवश्यक क्रिया करने में मुझ से जो अयोग्य विधान हुआ हो उस का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । (सामान्यरूप से इतना कह कर फिर विशेष रूप से प्रतिक्रमण के लिये शिष्य कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो ! आप की तेतीस में से किसी भी दैवसिक या रात्रिक आशातना के द्वारा मैंने जो अतिचार सेवन किया उसका प्रतिक्रमण करता हूँ; तथा किसी मिथ्याभाव से होने वाली, द्वेपजन्य, दुर्भाषणजन्य, लोभजन्य, सर्वकाल-सम्ब-

---

१—ये आशातनाएँ आवश्यक सूत्र पृ० ७२३ और समवायाङ्ग सूत्र पृ० ५८ में वर्णित हैं ।

न्धिनी, सब प्रकार के मिथ्या व्यवहारों से होने वाली और सब प्रकार के धर्म के अतिक्रमण से होने वाली आशातनी के द्वारा मैंने अतिचार सेवन किया उसका भी प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् फिर से ऐसा न करने का निश्चय करता हूँ, उस दूषण की निन्दा करता हूँ, आप गुरु के समीप उसकी गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप-व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूँ ॥२९॥

[दुबारा पढ़ते समय 'आवस्सिआए' पद नहीं कहना। रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राइवइक्कंता', चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी वइक्कंता', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो', सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो वइक्कंतो', ऐसा पाठ पढ़ना ।]

३०–देवसिअं आलोउं सूत्र ।

* इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोउं। इच्छं । आलोएमि जो मे इत्यादि ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दिवस-सम्बन्धी आलोचना करने के लिये आप मुझको इच्छा-पूर्वक आज्ञा दीजिए; (आज्ञा मिलने पर) 'इच्छं'—उसको मैं स्वीकार करता हूँ। बाद 'जो मे' इत्यादि पाठ का अर्थ पूर्ववत् जानना ।

---

* इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! दैवसिकं आलोचयितुं । इच्छामि । आलोचयामि यो मया इत्यादि ।

३१–सातलाख ।

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउकाय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण-वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय वाले, दो लाख तीन इन्द्रिय वाले, दो लाख चार इन्द्रिय वाले, चार लाख देवता, चार लाख नारक, चार लाख तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य । कुल चौरासी लाख जीवयोनियों[1] में से किसी जीव का मन हनन किया, कराया या करते हुए का अनुमोदन किया वह सब मन वचन काया करके मिच्छा मि दुक्कडं ।

३२–अठारह पापस्थान ।

पहला प्राणातिपात, दूसरा मृषावाद, तीसरा अदत्तादान, चौथा मैथुन, पांचवाँ परिग्रह, छठा क्रोध, सातवाँ मान, आठवाँ माया, नववाँ लोभ दशवाँ राग, ग्यारहवाँ द्वेष, बारहवाँ कलह, तेरहवाँ अभ्याख्यान, चौदहवाँ पैशुन्य, पन्द्रहवाँ रति-अरति, सोलहवाँ परपरिवाद, सत्रहवाँ मायामृषावाद, अठारहवाँ मिथ्यात्वशल्य; इन पापस्थानों में से किसी का मैंने सेवन किया कराया या करते हुए का अनुमोदन किया, वह सब मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

१ योनि उत्पत्ति-स्थान को कहते हैं । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की समानता होने से अनेक उत्पत्ति-स्थानों को भी एक योनि कहते हैं । (देखो योनिस्तव ।)

३३—सव्वस्सवि ।

सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुचिट्ठिअ, च्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इच्छं। तस्स मिच्छा मि क्कडं ।

इस का अर्थ पूर्ववत् जानना ।

३४-वंदित्तु--श्रावक का प्रतिक्रमण सूत्र ।

* वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावगधम्माइआरस्स ॥१॥

---

* वन्दित्वा सर्वसिद्धान् , धर्माचार्यांश्च सर्वसाधूंश्च ।
इच्छामि प्रतिक्रमितुं, श्रावकधर्मातिचारस्य ॥ १ ॥

१—गुण प्रकट होने पर उसमें आने वाली मलिनता को अतिचार कहते । अतिचार और भङ्ग में क्या अन्तर है ?

उत्तर—प्रकट हुए गुण के लोप को—सर्वथा तिरोभाव को—भङ्ग कहते और उस के अल्प तिरोभाव को अतिचार कहते हैं। शास्त्र में भङ्ग को सर्व-विराधना' और अतिचार को 'देश-विराधना' कहा है। अतिचार का रण कषाय का उदय है। कषाय का उदय तीव्र-मन्दादि अनेक प्रकार का ोता है। तीव्र उदय के समय गुण प्रकट ही नहीं होता, मन्द उदय के समय ण प्रकट तो होता है किन्तु बीच २ में कभी २ उस में मालिन्य हो आता है। सी से शास्त्र में काषायिक शक्ति को विचित्र कहा है। उदाहरणार्थ—अनन्ता- नबान्धिकषाय का उदय सम्यक्त्व को प्रकट होने से रोकता है और कभी उसे रोक कर उस में मालिन्य मात्र पैदा करता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्याना-

अन्वयार्थ—'सव्वसिद्धे' सब सिद्धों को 'धम्मायरिए' धर्माचार्यों को 'अ' और 'सव्वसाहू अ' सब साधुओं को 'वंदित्तु' वन्दन कर के 'सावगधम्माइआरस्स' श्रावक-धर्मसंबन्धी अतिचार से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना 'इच्छामि' चाहता हूँ ॥१॥

भावार्थ—सब सिद्धों को, धर्माचार्यों को और साधुओं को वन्दन कर के श्रावक-धर्मसम्बन्धी अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ॥१॥

[सामान्य व्रतातिचार की आलोचना]

* जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।
सुहुमो अ बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान के विषय में 'दंसणे' दर्शन के

वरणकषीय देश-विरति को प्रकट होने से रोकता भी है और कदाचित् उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है। [पञ्चाशक टीका, पृ० १] इस तरह विचारने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्त गुण की मलिनता या उसके कारणभूत कषायोदय को ही अतिचार कहना चाहिये। तथापि शङ्का, काङ्क्षा आदि या वध-बन्ध आदि बाह्य प्रवृत्तिओं को अतिचार कहा जाता है, सो परम्परा से; क्योंकि ऐसी प्रवृत्तिओं का कारण, कषाय का उदय ही है। तथाविध कषाय का उदय होने ही से शङ्का आदि में प्रवृत्ति या वध, बन्ध आदि कार्य में प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

१—अरिहन्त तथा सिद्ध। २—आचार्य तथा उपाध्याय।

* यो मे व्रतातिचारो, ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च ।
सूक्ष्मो वा बादरो वा, तं निन्दामि तं च गर्हे ॥२॥

विषय में 'चरित्ते' चारित्र के विषय में 'तह' तथा 'अ' च शब्द से तप, वीर्य आदि के विषय में 'सुहुमो' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'वायरो' बादर–स्थूल 'जो' जो 'वयाइआरो' व्रतातिचार 'मे' मुझको [लगा] 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—इस गाथा में, समुच्चयरूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि के अतिचारों की, जिनका वर्णन आगे किया गया है, आलोचना की गई है ॥२॥

† दुविहे परिग्गहम्मि, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे ।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥३॥

अन्वयार्थ—'दुविहे' दो तरह के 'परिग्गहम्मि' परिग्रह के लिये 'सावज्जे' पाप वाले 'बहुविहे' अनेक प्रकार के 'आरंभे' आरम्भों को 'कारावणे' कराने में 'अ' और 'करणे' करने में [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब 'देसिअं' दिवस–सम्बन्धी [दूषण] से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥३॥

भावार्थ—सचित्त [सजीव वस्तु] का संग्रह और अचित्त [अजीव वस्तु] का संग्रह ऐसे जो दो प्रकार के परिग्रह हैं, उनके निमित्त सावद्य—आरम्भ वाली प्रवृत्ति की गई हो, इस गाथा में उसकी समुच्चयरूप से आलोचना है ॥३॥

---

† द्विविधे परिग्रहे, सावद्ये बहुविधे चाऽऽरम्भे ।
कारणे च करणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥३॥

* जं वद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'अप्पसत्थेहिं' अप्रशस्त 'चउहिं' चार 'कसाएहिं' कषायों से 'व' अर्थात् 'रागेण' राग से 'व', या 'दोसेण' द्वेष से 'इंदिएहिं' इन्द्रियों के द्वारा 'जं' जो [पाप] 'बद्धं' बाँधा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ, 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ स्वरूप जो चार अप्रशस्त (तीव्र) कषाय हैं, उन के अर्थात् राग और द्वेष के वश होकर अथवा इन्द्रियों के विकारों के वश होकर जो पाप का बन्ध किया जाता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥४॥

† आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे [य] अणाभोगे ।
अभिओगे अ निओगे, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥५॥

अन्वयार्थ—'अणाभोगे' अनुपयोग से 'अभिओगे' दबाव से 'अ' और 'निओगे' नियोग से 'आगमणे' आने में 'निग्गमणे' जाने में 'ठाणे' ठहरने में 'चंकमणे' घूमने में जो 'देसिअं' दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥५॥

---

* यद्बद्धमिन्द्रियैः, चतुर्भिः कषायैरप्रशस्तैः ।
रागेण वा द्वेषेण वा, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥४॥

† आगमने निर्गमने, स्थाने चङ्क्रमणेऽनाभोगे ।
अभियोगे च नियोगे, प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥५॥

भावार्थ—उपयोग न रहने के कारण, या राजा आदि किसी बड़े पुरुष के दबाव के कारण, या नौकरी आदि की पराधीनता के कारण मिथ्यात्व पोषक स्थान में आने जाने से अथवा उसमें ठहरने घूमने से सम्यग्दर्शन में जो कोई दूषण लगता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥५॥

[सम्यक्त्व के अतिचारों की आलोचना]

‡ संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥६॥ *

अन्वयार्थ—'संका' शङ्का 'कंख' काङ्क्षा 'विगिच्छा' फल में सन्देह 'पसंस' प्रशंसा 'तह' तथा 'कुलिंगीसु' कुलिङ्गियों का 'संथवो' परिचय; [इन] 'सम्मत्तस्स' सम्यक्त्व-सम्बन्धी 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअं' दैवसिक [जो पाप लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ६ ॥

---

‡ शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा, प्रशंसा तथा संस्तवः कुलिङ्गिषु ।
सम्यक्त्वस्यातिचारान् प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥६॥

* सम्यक्त्व तथा बारह व्रत आदि के जो अतिचार इस जगह गाथाओं में हैं वे ही आवश्यक, उपासकदशा और तत्त्वार्थ सूत्र में भी सूत्र-बद्ध हैं। उन में से सिर्फ आवश्यक के ही पाठ, जानने के लिये, यहां यथास्थान लिख दिये गये हैं:—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे ।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८११/१]

भावार्थ—सम्यक्त्व में मलिनता करने वाले पाँच अतिचार हैं जो त्यागने योग्य हैं, उनकी इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) वीतराग के वचन पर निर्मूल शङ्का करना शङ्कातिचार, (२) अहितकारी मत को चाहना काङ्क्षातिचार, (३) धर्म का फल मिलेगा या नहीं, ऐसा सन्देह करना या निःस्पृह त्यागी महात्माओं के मलिन वस्त्र-पात्र आदि को देख उन पर घृणा करना विचिकित्सातिचार, (४) मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना जिससे कि मिथ्याभाव की पुष्टि हो कुलिङ्गिप्रशंसातिचार, और (५) बनावटी भेस पहन कर धर्म के बहाने लोगों को धोखा देने वाले पाखण्डियों का परिचय करना कुलिङ्गिसंस्तवातिचार ॥६॥

[आरम्भजन्य दोषों की आलोचना]

* छक्कायसमारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा ।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥७॥

अन्वयार्थ—'अत्तट्ठा' अपने लिये 'परट्ठा' पर के लिये 'य' और 'उभयट्ठा' दोनों के लिये 'पयणे' पकाने में 'अ' तथा 'पयावणे' पकवाने में 'छक्कायसमारंभे' छह काय के आरम्भ से

१–शङ्का आदि से तत्त्वरुचि चलित हो जाती है, इसलिये वे सम्यक्त्व के अतिचार कहे जाते हैं ।

* षट्कायसमारम्भे, पचने च पाचने च ये दोषाः ।
आत्मार्थं च परार्थं, उभयार्थं चैव तन्निन्दामि ॥७॥

'जं' जो 'दोसा' दोष [लगे] 'तं' उनकी 'चेव' अवश्य 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥७॥

भावार्थ—अपने लिये या पर के लिये या दोनों के लिये कुछ पकाने, पकवाने में छह काय की विराधना होने से जो दोष लगते हैं उनकी इस गाथा में आलोचना है ॥७॥

[सामान्यरूप से बारह व्रत के अतिचारों की आलोचना]

‡ पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥८॥

अन्वयार्थ—'पचण्ह' पाँच 'अणुव्वयाण' अणुव्रतों के 'तिण्ह' तीन 'गुणव्वयाणं' गुणव्रतों के 'च' और 'चउण्हं' चार 'सिक्खाणं' शिक्षाव्रतों के 'अइआरे' अतिचारों से [जो कुछ] 'देसिअं' दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥८॥

भावार्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों के तथा तप संलेखना आदि के अतिचारों को सेवन करने से जो दूषण लगता है उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥८॥

---

‡ पञ्चानामणुव्रताना, गुणव्रताना च त्रयाणामतिचारान् ।
शिक्षाणा च चतुर्णा, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥८॥

१ –श्रावक के पहले पाँच व्रत महाव्रत की अपेक्षा छोटे होने के कारण 'अणुव्रत' कहे जाते हैं, ये 'देश मूलगुणरूप' हैं । अणुव्रतों के लिये गुणकारक अर्थात् पुष्टिकारक होने के कारण छठे आदि तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं । और शिक्षा की तरह बार बार सेवन करने योग्य होने के कारण नववें आदि

[पहले अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* पढमे अणुव्वयम्मि, थूलगपाणाइवायविरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥९॥
वह बंध छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
पढमवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१०॥ †

चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहे जाते हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत 'देश-उत्तरगुणरूप' हैं • पहले आठ व्रत यावत्कथित हैं-अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाते हैं उतने काल तक इनका पालन निरन्तर किया जाता है । पिछले चार इत्वरिक हैं–अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाँय उतने काल तक उनका पालन निरन्तर नहीं किया जाता, सामायिक और देशावकाशिक ये दो प्रतिदिन लिये जाते हैं और पौषध तथा अतिथिसंविभाग ये दो व्रत अष्टमी चतुर्दशी पर्व आदि विशेष दिनों में लिये जाते हैं । [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८३८]

* प्रथमेऽणुव्रते, स्थूलकप्राणातिपातविरतितः ।
आचरितमप्रशस्तेऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥९॥
वधो बन्धश्छविच्छेदः, अतिभारो भक्तपानव्यवच्छेदः ।
प्रथमव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१०॥

१—पहले व्रत में यद्यपि शब्दतः प्राणों के अतिपात—विनाशका ही प्रत्याख्यान किया जाता है, तथापि विनाश के कारणभूत वध आदि क्रियाओं का त्याग भी उस व्रत में गर्भित है । वध, बन्ध आदि करने से प्राणी को केवल कष्ट पहुँचता है, प्राण-नाश नहीं होता । इस लिये बाह्य दृष्टि से देखने पर उस में हिंसा नहीं है, पर कषायपूर्वक निर्दय व्यवहार किये जाने के कारण अन्तर्दृष्टि से देखने पर उस में हिंसा का अंश है । इस प्रकार वध बन्ध आदि से प्रथम व्रत का मात्र देशतः भङ्ग होता है । इस कारण वध, बन्ध आदि पहले व्रत के अतिचार हैं । [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १०]

† थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणि-

अन्वयार्थ—'इत्थं' इस 'थूलग' स्थूल 'पाणाइवायविरईओ' प्राणातिपात विरातिरूप 'पढमे' पहले 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के के विषय में 'पमायप्पसंगेण' प्रमाद के प्रसङ्ग से 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया हो; [जैसे] 'वह' वध—ताड़ना, 'बंध' बन्धन, 'छविच्छेए' अङ्गच्छेद, 'अइभारे' बहुत बोझा लादना, 'भत्तपाणवुच्छेए' खाने पीने में रुकावट डालना; [इन] 'पढमवयस्स' पहले व्रत के 'अइआरे' अतिचारों के कारण जो कुछ 'देसिअं' दिन में [दूषण लगा हो उस] 'सव्वं' सब से 'पडिकमे', निवृत्त होता हूँ ॥९॥ १०॥

भावार्थ—जीव सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के है। उन सब की हिंसा से गृहस्थ श्रावक निवृत्त नहीं हो सकता। उसको अपने धन्धे में सूक्ष्म (स्थावर) जीवों की हिंसा लग ही जाती है, इसलिये वह स्थूल (त्रस) जीवों का पच्चक्खाण करता है। त्रस में भी जो अपराधी हों, जैसे चोर हत्यारे आदि उनकी हिंसा का पच्चक्खाण गृहस्थ नही कर सकता; इस कारण वह निरपराध त्रस जीवों की ही हिंसा का पच्चक्खाण करता है। निरपराध त्रस जीवों की हिंसा भी संकल्प और आरम्भ दो तरह से होती है। इसमें आरम्भजन्य हिंसा, जो खेती व्यापार आदि धन्धे में

यव्वा, तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८१८]

हो जाती है उससे गृहस्थ बच नहीं सकता, इस कारण वह संकल्प हिंसा का ही अर्थात् हड्डी, दांत, चमड़े या मांस के लिये अमुक प्राणी को मारना चाहिये, ऐसे इरादे से हिंसा करने का ही पच्चक्खाण करता है। संकल्प पूर्वक की जाने वाली हिंसा भी सापेक्ष निरपेक्षरूप से दो तरह की है। गृहस्थ को बैल, घोड़े आदि को चलाते समय या लड़के आदि को पढ़ाते समय कुछ हिंसा लग ही जाती है जो सापेक्ष है; इसलिये वह निरक्षेप अर्थात् जिसकी कोई भी जरूरत नहीं है ऐसी निरर्थक हिंसा का ही पच्चक्खाण करता है। यही स्थूल प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम अणुव्रत है।

इस व्रत में जो क्रियाएँ अतिचाररूप होने से त्यागने योग्य हैं उनकी इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों को चाबुक, लकड़ी आदि से पीटना, (२) उनको रस्सी आदि से बाँधना, (३) उन के नाक, कान आदि अङ्गों को छेदना, (४) उन पर परिमाण से अधिक बोझा लादना और (५) उनके खाने पीने में रुकावट पहुँचाना ॥९॥१०॥

[दूसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* बीए अणुव्वयम्मि, परिथूलगअलियवयणविरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥११॥

---

* द्वितीयेऽणुव्रते, परिस्थूलकालीकविरतितः ।
आचरितमप्रशस्ते,ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥ ११ ॥

* सहसा-रहस्सदारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ।
बीयवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१२॥ †

अन्वयार्थ—'परिथूलगअलियवयणविरईओ' स्थूल असत्य वचन की विरतिरूप 'इत्थ' इस 'बीए' दूसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया हो [जैसे]:— 'सहसा' विना विचार किये किसी पर दोष लगाना 'रहस्स' एकान्त में बात चीत करने वाले पर दोष लगाना 'दारे' स्त्री की गुप्त बात को प्रकट करना 'मोसुवएसे' झूठा उपदेश करना 'अ' और 'कूडलेहे' बनावटी लेख लिखना 'बीयवयस्स' दूसरे व्रत के 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअं' दिन में [जो दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥११॥१२॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूल दो तरह का मृषावाद है। हँसी दिल्लगी में झूठ बोलना सूक्ष्म मृषावाद है; इसका त्याग करना गृहस्थ के लिये कठिन है। अतः वह स्थूल मृषावाद का अर्थात् क्रोध या लालच वश सुशील कन्या को दुःशील और दुःशील कन्या को सुशील कहना, अच्छे पशु को बुरा और बुरे को अच्छा बतलाना, दूसरे की जायदाद को अपनी और अपनी

---

* सहसा-रहस्यदारे, मृषोपदेशे च कूटलेखे च।
द्वितीयव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम्॥१२॥

† थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—सहस्सब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे।
[आवस्यक सूत्र, पृष्ठ ८२०]

जायदाद को दूसरे की साबित करना, किसी की रक्खी हुई धरोहर को दबा लेना या झूँठी गवाही देना इत्यादि प्रकार के झूठ का त्याग करता है। यही दूसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो बातें अतिचार रूप हैं उन को दिखा कर इन दो गाथाओं में उन के दोषों की आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) विना विचार किये ही किसी के सिर दोष मढ़ना, (२) एकान्त में बात चीत करने वाले पर दोषारोपण करना, (३) स्त्री की गुप्त व मार्मिक बातों को प्रकट करना, (४) असत्य उपदेश देना और (५) झूठे लेख (दस्तावेज) लिखना ॥११॥१२॥

[तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* तइए अणुव्वयम्मि, थूलगपरदव्वहरणविरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१३॥
तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे अ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१४॥ ‡

* तृतीयेऽणुव्रते, स्थूलकपरद्रव्यहरणविरतितः।
आचरितमप्रशस्ते, ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥१३॥
स्तेनाहृतप्रयोगे, तत्प्रतिरूपे विरुद्धगमने च।
कूटतुलकूटमाने, प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥१४॥

‡ थूलादत्तादानवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा-तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे।
[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२२]

अन्वयार्थ—'थूलगपरदव्वहरणविरईओ' स्थूल पर-द्रव्यहरण विरतिरूप 'इत्थ' इस 'तइए' तीसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेण' प्रमाद के वश हो कर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया; [जैसे] 'तेनाहडप्पओगे' चोर की लाई हुई वस्तु का प्रयोग करना—उसे खरीदना, 'तप्पडिरूवे' असली वस्तु दिखा कर नकली देना, 'विरुद्धगमणे' राज्य-विरुद्ध प्रवृत्ति करना, 'कूडतुल' झूठी तराजू रखना, 'अ' और 'कूडमाणे' छोटा बडा नाप रखना; इससे लगे हुए 'सव्व' सब 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी दोष से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१३॥१४॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूलरूप से अदत्तादान दो प्रकार का है । मालिक की संमति के विना भी जिन चीजों को लेने पर लेने वाला चोर नहीं समझा जाता ऐसी ढेला-तृण आदि मामूली चीजों को, उनके स्वामी की अनुज्ञा के लिये विना, लेना सूक्ष्म अदत्तादान है । इसका त्याग गृहस्थ के लिये कठिन है, इसलिये वह स्थूल अदत्तादान का अर्थात् जिन्हें मालिक की आज्ञा के विना लेने वाला चोर कहलाता है ऐसे पदार्थों को उनके मालिक की आज्ञा के विना लेने का त्याग करता है; यह तीसरा अणुव्रत है । इस व्रत में जो अतिचार लगते हैं उनके दोषों की इन दो गाथाओं में आलोचना है । वे अतिचार ये हैं —

(१) चोरी का माल खरीद कर चोर को सहायता पहुँचाना, (२) बढ़िया नमूना दिखा कर उसके बदले घटिया चीज देना या

मिलावट कर के देना, (३) चुंगी आदि महसूल विना दिये किसी चीज को छिपा कर लाना ले जाना या मनाही किये जाने पर भी दूसरे देश में जाकर राज्यविरुद्ध हलचल करना, (४) तराजू, बाँट आदि सही सही न रख कर उन से कम देना ज्यादा लेना, (५) छोटे बड़े नाप रखकर न्यूनाधिक लेना देना ॥१३॥१४॥

[चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* चउत्थे अणुव्वयम्मि, निच्चं परदारगमणविरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१५॥
अपरिग्गहिआ इत्तर,अणंगवीवाहतिव्वअणुरागे ।
चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१६॥ ‡

अन्वयार्थ—'परदारगमणविरईओ' परस्त्रीगमन विरतिरूप 'इत्थ' इस 'चउत्थे' चौथे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमादवश होकर 'निच्चं' नित्य 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया। जैसे:—'अपरिग्गहिआ' नहीं व्याही हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, 'इत्तर' किसी की थोड़े वक्त तक रक्खी हुई स्त्री के साथ

---

* चतुर्थेऽणुव्रते, नित्यं परदारगमनविरतितः ।
आचरितमप्रशस्ते,-ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥१५॥
अपरिगृहीतेत्वरा,-नंगविवाहतीव्रानुरागे ।
चतुर्थव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥१६॥

‡ सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा–अपरिग्गहिआगमणे इत्तरियपरिग्गहियागमणे अणंगकीडा परवीवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२३]

१—यह सूत्रार्थ पुरुष को लक्ष्य में रख कर है। स्त्रियों के लिये इससे उलटा समझना चाहिये। जैसे:—परपुरुषगमन विरतिरूप आदि।

सम्बन्ध, 'अणंग' काम क्रीडा 'वीवाह' विवाह सम्बन्ध, 'तिव्व-अणुरागे' काम भोग की प्रबल अभिलाषा, [इन] 'चउत्थवयस्स' चौथे वृत के 'अइआरे' अतिचारों से [लगे हुए] 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१५॥१६॥

भावार्थ—मैथुन के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद है। इन्द्रियों का जो अल्प विकार है वह सूक्ष्म मैथुन है और मन, वचन तथा शरीर से कामभोग का सेवन करना स्थूल मैथुन है। गृहस्थ के लिये स्थूल मैथुन के त्याग का अर्थात् सिर्फ अपनी स्त्री में संतोष रखने का या दूसरे की व्याही हुई अथवा रक्खी हुई ऐसी परस्त्रियों को त्यागने का विधान है। यही चौथा अणुव्रत है। इस वृत में लगने वाले अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

१—चतुर्थ व्रत के धारण करने वाले पुरुष तीन प्रकार के होते हैं-(१) सर्वथा ब्रह्मचारी, (२) स्वदारसंतोषी, (३) परदारत्यागी। पहले प्रकार के ब्रह्मचारी के लिये तो अपरिगृहीता-सेवन आदि उक्त पाँचों अतिचार हैं; परन्तु दूसरे तीसरे प्रकार के ब्रह्मचारी के विषय में मतभेद है। श्रीहरिभद्र सूरिजी ने आवश्यक सूत्र की टीका में चूर्णि के आधार पर यह लिखा है कि स्वदारसंतोषी को पाँचों अतिचार लगते हैं किन्तु परदारत्यागी को पिछले तीन ही, पहले दो नहीं [आवश्यक टीका, पृष्ठ ८२५]। दूसरा मत यह है कि स्वदारसंतोषी को पहला छोड़कर शेष चार अतिचार। तीसरा मत यह है कि परदारत्यागी को पाँच अतिचार लगते हैं, पर स्वदारसंतोषी को पिछले तीन अतिचार, पहले दो नहीं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १४-१५]। स्त्री के लिये पाँचों अतिचार बिना मत-भेद के माने गये हैं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १५]

(१) क्वाँरी कन्या या वेश्या के साथ सम्बन्ध जोड़ना, (२) जिसको थोड़े वख्त के लिये किसी ने रक्खा हो; ऐसी वेश्या के साथ रमण करना, (३) सृष्टि के नियम विरुद्ध काम क्रीडा करना, (४) अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों का विवाह करना कराना और (५) कामभोग की प्रबल अभिलाषा करना ॥ १५ ॥ १६ ॥

[पाँचवें अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* इत्तो अणुव्वए पं,–चमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि ।
परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१७॥
धण-धन्न-खित्त-वत्थू, रूप्प-सुवन्ने अ कुविअपरिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥१८॥ ‡

अन्वयार्थ—'इत्तो' इसके बाद 'इत्थ' इस 'परिमाणपरिच्छेए' परिमाण करने रूप 'पंचमम्मि' पाँचवें 'अणुव्वए' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थम्मि' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण हुआ; जैसेः—

---

* इतोऽणुव्रते पञ्चमे, आचरितमप्रशस्ते ।
परिमाणपरिच्छेदे,-ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥ १७ ॥
धन-धान्य-क्षेत्र-वास्तु-रूप्य-सुवर्णे च कुप्यपरिमाणे ।
द्विपदे चतुष्पदे च, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १८ ॥

‡ इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच; धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुविअपमाणाइक्कमे । [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२५]

'धण' धन 'धन्न' धान्य–अनाज 'खित्त' खेत 'वत्थू' घर दूकान आदि 'रूप्प' चाँदी 'सुवन्ने' सोना 'कुविअे' कुप्य–ताँबा आदि धातुएँ 'दुपए' दो पैर वाले–दास, दासी, नौकर, चाकर आदि 'चउप्पयम्मि' गाय, भैंस आदि चौपाये [इन सबके] 'परिमाणे' परिमाण के विषय में 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी लगे हुए 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१७॥१८॥

भावार्थ—परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अर्थात् किसी चीज पर थोड़ी भी मूर्च्छा न रखना, यह इच्छा का पूर्ण निरोध है, जो गृहस्थ के लिये असंभव है। इस लिये गृहस्थ संग्रह की इच्छा का परिमाण कर लेता है कि मैं अमुक चीज इतने परिमाण में ही रक्खूँगा, इससे अधिक नहीं; यह पाँचवाँ अणुव्रत है। इसके अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) जितना धन-धान्य रखने का नियम किया हो उससे अधिक रखना, (२) जितने घर-खेत रखने की प्रतिज्ञा की हो उससे ज्यादा रखना, (३) जितने परिमाण में सोना चाँदी रखने का नियम किया हो उससे अधिक रख कर नियम का उल्लङ्घन करना, (४) ताँबा आदि धातुओं को तथा शयन आसन आदि को जितने परिमाण में रखने का प्रण किया हो उस से ज्यादा रखना और (५) द्विपद चतुष्पद को नियामित परिमाण से अधिक संग्रह कर के नियम का अतिक्रमण करना[१]॥१७॥१८॥

१—नियत किये हुए परिमाण का साक्षात् अतिक्रमण करना अतिचार

नहीं, किन्तु भङ्ग है। अतिचार का मतलब इस प्रकार है:—

मंजूर करने से धन-धान्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत परिमाण के उपरान्त धन-धान्य का लाभ देख कर किसी से यह कहना कि तुम इतना अपने पास रखो। मैं पीछे से-जब कि व्रत की कालावधि पूर्ण हो जायगी-उसे ले लूँगा अथवा उस अधिक धन-धान्य को बाँध कर किसी के पास इस बुद्धि से रख देना कि पास की चीज कम होने पर ले लिया जायगा, अभी लेने में व्रत का भङ्ग होगा, यह धन-धान्यपरिमाणातिचार है।

मिला देने से क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त खेत या घर की प्राप्ति होने पर व्रत-भङ्ग न हो इस बुद्धि से पहले के खेत की बाड़ तोड़ कर उसमें नया खेत मिला देना और संख्या कायम रखना अथवा पहले के घर की भित्ती गिरा कर उसमें नया घर मिला कर घर की संख्या कायम रखना; यह क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार है।

सौंपने से सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार लगता है। जैसे कुछ कालावधि के लिये सोना-चाँदी के परिमाण का अभिग्रह लेने के बाद बीच में ही अधिक प्राप्ति होने पर किसी को यह कह कर अधिक भाग सौंप देना कि मैं इसे इतने समय के बाद ले लूंगा, अभी मुझे अभिग्रह है; यह सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार है।

नई घड़ाई कराने से कुप्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त ताँबा, पीतल आदि का बर्तन मिलने पर उसे लेने से व्रत-भङ्ग होगा इस भय से दो बर्तनों को भँगा कर एक बनवा लेना और संख्या को कायम रखना; यह कुप्यपरिमाणातिचार है।

गर्भ के संबन्ध से द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत कालावधि के भीतर प्रसव होने से संख्या बढ़ जायगी और व्रत-भङ्ग होगा इस भय से द्विपद या चतुष्पदों को कुछ देर से गर्भ ग्रहण कराना जिससे कि व्रत की कालावधि में प्रसव होकर संख्या बढ़ने न पावे और कालावधि के बाद प्रसव होने से फायदा भी हाथ से न जाने पावे; यह द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार है। [धर्मसंग्रह, श्लोक ४८]

[छठे वृत के अतिचारों की आलोचना]

* गमणस्स उ परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।
वुड्ढि सइअंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥१९॥ †

अन्वयार्थ—'उड्ढ' ऊर्ध्व 'अहे' अधो 'अ' और 'तिरिअं च' तिरछी [इन] 'दिसासु' दिशाओं में 'गमणस्स उ' गमन करने के 'परिमाणे' परिमाण की 'वुड्ढि' वृद्धि करना और 'सइ-अंतरद्धा' स्मृति का लोप होना (ये अतिचाररूप है) 'पढमम्मि' पहले 'गुणव्वए' गुण-वृत में (इन की मैं) 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥१९॥

भावार्थ—साधु सयम वाले होते है। वे जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि की तरह कहीं भी जावें उनके लिये सब जगह समान है। पर गृहस्थ की बात दूसरी है, वह अपनी लोभ-वृत्ति को मर्यादित करने के लिये ऊर्ध्व-दिशा में अर्थात् पर्वत आदि पर, अधो-दिशा में अर्थात् खानि आदि में और तिरछी दिशा में अर्थात् पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं तथा ईशान, अग्नि आदि चार विदिशाओं में जाने का परिमाण नियत कर लेता है कि मैं अमुक-दिशा में

---

* गमनस्य तु परिमाणे, दिक्षूर्ध्वमधश्च तिर्यक् च।
वृद्धि. स्मृत्यन्तर्धा, प्रथमे गुणव्रते निन्दामि ॥१९॥

† दिसिवयस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिअदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा।
[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२७/१]

इतने योजन तक गमन करूँगा, इस से अधिक नहीं। यह दिक् परिमाण रूप प्रथम गुण-व्रत अर्थात् छठां व्रत है। इस में लगने वाले अतिचारों की इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) ऊर्ध्व-दिशा में जितनी दूर तक जाने का नियम किया हो उससे आगे जाना, (२) अधो-दिशा में जितनी दूर जाने का नियम हो उससे आगे जाना, (३) तिरछी दिशों में जाने के लिये जितना क्षेत्र निश्चित किया हो उससे दूर जाना, (४) एक तरफ के नियमित क्षेत्र-प्रमाण को घटा कर दूसरी तरफ उतना बढ़ा लेना और वहाँ तक चले जाना, जैसे पूर्व और पश्चिम में सौ सौ कोस से दूर न जाने का नियम कर के आवश्यकता पड़ने पर पूर्व में नव्वे कोस की मर्यादा रख कर पश्चिम में एक सौ दस कोस तक चले जाना और (५) प्रत्येक दिशा में जाने के लिये जितना परिमाण निश्चित किया हो उसे भुला देना ॥१९॥

[सातवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ।
उवभोगपरीभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२०॥

---

* मद्ये च मांसे च, पुष्पे च फले च गन्धमाल्ये च।
उपभोगपरिभोगयो,—र्द्वितीये गुण-व्रते निन्दामि ॥२०॥

***सचित्ते पडिबद्धे, अपोलि दुप्पोलिअं च आहारे ।**
तुच्छोसहिभक्खणया, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥२१॥†
इंगालीवणसाडी,–भाडीफोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दं,–तलक्खरसकेसविसविसयं ॥२२॥
एवं खु जंतपिल्लण,–कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥÷

अन्वयार्थ—'बीयम्मि' दूसरे 'गुणव्वए' गुणव्रत में 'मज्जम्मि' मद्य-शराब 'मंसम्मि' मांस 'पुप्फे' फूल 'फले' फल 'अ' और 'गंधमल्ले' सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्पमालाओं के 'उवभोग-परीभोगे' उपभोग तथा परिभोग की 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२०॥

---

* सचित्ते प्रतिबद्धे,ऽपक्वं दुष्पक्वं चाहारे ।
तुच्छौषधिभक्षणता, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥२१॥
अङ्गारवनशकट,–भाटकस्फोटं सुवर्जयेत् कर्म ।
वाणिज्यं चैव च दन्तलाक्षारसकेशविषविषयम् ॥२२॥
एवं खलु यन्त्रपीलन,–कर्म निर्लाञ्छनं च दवदानम ।
सरोहृदतडागशोषं, असतीपोषं च वर्जयेत् ॥२३॥

† भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा-सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया ।
[आव० सूत्र, पृ० ८२८]

÷ कम्मओणं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं,तंजहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे। दंतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे । जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईपोसणया ।
[आव० सू०, पृ० ८२९]

'सच्चित्ते' सचित्त वस्तु के 'पडिबद्धे' सचित्त से मिली हुई वस्तु के 'अप्पोल' नहीं पकी हुई वस्तु के 'च' और 'दुप्पोलिअ' दुष्पक्व–आधी पकी हुई–वस्तु के 'आहारे' खाने से [तथा] 'तुच्छोसहिभक्खणया' तुच्छ वनस्पति के खाने से जो 'देसिअं' दिन में दूषण लगा 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२१॥

'इंगाली' अङ्गार कर्म 'वण' वन कर्म 'साडी' शकट कर्म 'भाडी' भाटक कर्म 'फोडी' स्फोटक कर्म [इन पाँचों] 'कम्मं' कर्म को 'चेव' तथा ' दंत' दाँत 'लक्ख' लाख 'रस' रस 'केस' बाल 'य' और 'विसविसयं' ज़हर के 'वाणिज्जं' व्यापार को [श्रावक]'सुवज्जए' छोड़ देवे ॥२२॥

'एवं' इस प्रकार 'जंतपिल्लणकम्मं' यन्त्र से पीसने का काम 'निल्लंछणं' अङ्गों को छेदने का काम 'दवदाणं' आग लगाना, 'सरदहतलायसोसं' सरोवर, झील तथा तालाब को सुखाने का काम 'च' और 'असईपोसं' असती-पोषण [इन सब को सुश्रावक] 'खु' अवश्य 'वज्जिज्जा' त्याग देवे ॥२३॥

भावार्थ—सातवाँ व्रत भोजन और कर्म दो तरह से होता है। भोजन में जो मद्य, मांस आदि बिलकुल त्यागने योग्य हैं उन का त्याग कर के बाकी में से अन्न, जल आदि एक ही बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का तथा वस्त्र, पात्र आदि बार बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण कर लेना। इसी तरह कर्म में, अङ्गार कर्म आदि अतिदोष वाले कर्मों

का त्याग कर के बाकी के कामों का परिमाण कर लेना, यह उपभोग-परिभोग-परिमाणरूप दूसरा गुणव्रत अर्थात् सातवाँ व्रत है।

ऊपर की चार गाथाओं में से पहली गाथा में मद्य, मांस आदि वस्तुओं के सेवन मात्र की और पुष्प, फल, सुगन्धि द्रव्य आदि पदार्थों का परिमाण से ज्यादा उपभोग परिभोग करने की आलोचना की गई है। दूसरी गाथा में सावद्य आहार का त्याग करने वाले को जो अतिचार लगते हैं उनकी आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग कर के उसका सेवन करना या जो परिमाण नियत किया हो उस से अधिक लेना, (२) सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु का, जैसे:-वृक्ष से लगे हुए गोंद तथा बीज सहित पके हुए फल का या सचित्त बीज वाले खजूर, आम आदि का आहार करना, (३) अपक्क आहार लेना, (४) दुष्पक्व—अधपका आहार लेना और (५) जिनमें खाने का भाग कम और फेंकने का अधिक हो ऐसी तुच्छ वनस्पतियों का आहार करना।

तीसरी और चौथी गाथा में पन्द्रह कर्मादान जो बहुत सावद्य होने के कारण श्रावक के लिये त्यागने योग्य हैं उनका वर्णन है। ये कर्मादान ये हैं:—

(१) अङ्गार कर्म–कुम्हार, चूना पकाने वाले और भड़-भूँजे आदि के काम, जिनमें कोयला आदि इन्धन जलाने की खूब जरूरत पड़ती हो, (२) वन कर्म—बड़े बड़े जंगल खरीदने का तथा काटने आदि का काम, (३) शकट कर्म–इक्का बग्घी, बैल आदि भाँति भाँति के वाहनों को खरीदने तथा वेचने का धंधा करना, (४) भाटक कर्म–घोड़े, ऊँट, बैल आदि को किराये पर दे कर रोजगार चलाना, (५) स्फोटक कर्म—कुँआ, तालाब आदि को खोदने खुदवाने का व्यवसाय करना, (६) दन्त वाणिज्य–हाथी-दाँत, सीप, मोती आदि का व्यापार करना, (७) लाक्षा वाणिज्य–लाख, गोंद आदि का व्यापार करना, (८) रस वाणिज्य– घी, दूध आदिका व्यापार करना, (९) केश वाणिज्य–मोर, तोते आदि पक्षियों का, उनके पंखों का और चमरी गाय आदि के बालों का व्यापार चलाना, (१०) विष वाणिज्य–अफीम, संखिया आदि विषैले पदार्थों का व्यापार करना, (११) यन्त्रपीलन कर्म–चक्की, चरखा, कोल्हू आदि चलाने का धंधा करना, (१२) निर्लाञ्छन कर्म–ऊँट, बैल आदि की नाक को छेदना या भेड़, बकरी आदि के कान को चीरना, (१३) दवदान कर्म–जंगल, गाँव, गृह आदि में आग लगाना (१४) शोषण कर्म–झील, हौज, तालाब आदि को सुखाना और (१५) असतीपोषण कर्म–बिल्ली, न्यौला आदि हिंसक प्राणियों का पालन तथा दुराचारी मनुष्यों का पोषण करना ॥२०-२३॥

[आठवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*सत्थग्गिमुसलजंतग-तणकट्ठे मंतमूल भेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ २४॥
न्हाणुव्वट्टणवन्नग.-विलेवणे सद्दरूवरसगंधे ।
वत्थासण आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२५॥
कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरिअहिगरण भोगअइरित्ते ।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२६॥ †

अन्वयार्थ—'सत्थ' शस्त्र 'अग्गि' अग्नि 'मुसल' मूसल 'जंतग' यन्त्र–कल 'तण' घास 'कट्ठे' लकड़ी 'मंत' मन्त्र 'मूल' जड़ी [और] 'भेसज्जे' औषध 'दिन्ने' दिये जाने से 'वा' अथवा 'दवाविए' दिलाये जाने से 'देसिअं' दैनिक दूषण लगा हो 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२४॥

'न्हाण' स्नान 'उव्वट्टण' उवटन 'वन्नग' गुलाल आदि रङ्गीन बुकनी 'विलेवणे' केसर, चन्दन आदि विलेपन 'सद्द' शब्द 'रूव' रूप 'रस' रस 'गंधे' गन्ध 'वत्थ' वस्त्र 'आसण' आसन

---

* शस्त्राग्निमुशलयन्त्रक,-तृणकाष्ठे मन्त्रमूलभैषज्ये ।
दत्ते दापिते वा, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ २४ ॥
स्नानोद्वर्तनवर्णक,-विलेपने शब्दरूपरसगन्धे ।
वस्त्रासनाभरणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ २५ ॥
कन्दर्पे कौत्कुच्ये, मौखर्येऽधिकरणभोगातिरिक्ते ।
दण्डेऽनर्थे, तृतीये गुणव्रते निन्दामि ॥६॥

† अणत्थदंडवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरेगे । [आव० सूत्र, पृ० ८३०]

और 'आभरणे' गहने के [भोग से लगे हुए] 'देसिअं' दैनिक 'सव्वं' सर्व दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ॥ २५॥

'अणट्ठाए दंडम्मि' अनर्थदण्ड विरमण रूप 'तइयम्मि' तीसरे 'गुणव्वए' गुणवृत के विषय में [पाँच अतिचार है। जैसे.—]'कंदप्पे' कामविकार पैदा करने वाली बातें करना, 'कुक्कुइए' औरों को हँसाने के लिये भाँड़ की तरह हँसी, दिल्लगी करना या किसी की नकल करना, 'मोहरि' निरर्थक बोलना, 'अहिगरण' सजे हुए हथियार या औजार तैयार रखना, 'भोगअइरित्ते' भोगने की--वस्त्र पात्र आदि—चीजों को जरूरत से ज्यादा रखना; [इन की मैं] 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२६॥

भावार्थ—अपनी और अपने कुटुम्बियों की जरूरत के सिवा व्यर्थ किसी दोष-जनक प्रवृत्ति के करने को अनर्थदण्ड कहते है, इस से निवृत्त होना अनर्थदण्ड विरमण रूप तीसरा गुणवृत अर्थात् आठवाँ वृत है। अनर्थदण्ड चार प्रकार से होता है:—

(१) अपध्यानाचरण, यानी बुरे विचारों के करने से, (२) पापकर्मोपदेश, यानी पापजनक कर्मों के उपदेश से, (३) हिंसा-प्रदान, यानी जिनसे जीवों की हिंसा हो ऐसे साधनों के देने दिलाने से, (४) प्रमादाचरण, यानी आलस्य के कारण से। इन तीन गाथाओं में इसी अनर्थदण्ड की आलोचना की गई है।

जिन में से प्रथम गाथा में—छुरी, चाकू आदि शस्त्र का देना दिलाना; आग देना दिलाना; मूसल, चक्की आदि यन्त्र तथा घास लकड़ी आदि ईन्धन देना दिलाना; मन्त्र, जड़ी, बूटी तथा

चूर्ण आदि औषध का प्रयोग करना कराना; इत्यादि प्रकार के हिंसा के साधनों की निन्दा की गई है ।

दूसरी गाथा में—अयतना पूर्वक स्नान, उबटन का करना, अबीर, गुलाल आदि रङ्गीन चीजों का लगाना, चन्दन आदि का लेपन करना, बाजे आदि के विविध शब्दों का सुनना, तरह तरह के लुभावने रूप देखना, अनेक रसों का स्वाद लेना, भाँति भाँति के सुगन्धित पदार्थों का सूँघना; अनेक प्रकार के वस्त्र, आसन और आभूषणों में आसक्त होना, इत्यादि प्रकार के प्रमादाचरण की निन्दा की गई है ।

तीसरी गाथा में—अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचारों की आलोचना है । वे अतिचार इस प्रकार हैं:—(१) इन्द्रियों में विकार पैदा करने वाली कथायें कहना, (२) हँसी, दिल्लगी या नकल करना, (३) व्यर्थ बोलना, (४) शस्त्र आदि सजा कर तैयार करना और (५) आवश्यकता से अधिक चीजों का संग्रह करना ॥२४--२६॥

[नववें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे ।
सामाइय वितह कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥२७॥

---

* त्रिविधे दुष्प्रणिधाने,-ऽनवस्थाने तथा स्मृतिविहीने ।
सामायिके वितथे कृते, प्रथमे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२७॥

† सामाइयस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया [आव० सू०,पृ० ८३१]

अन्वयार्थ—'तिविहे' तीन प्रकार का 'दुप्पणिहाणे' दुष्प्रणिधान-मन वचन शरीर का अशुभ व्यापार-'अणवट्ठाणे' अस्थिरता 'तहा' तथा 'सइविहूणे' याद न रहना; [इन अतिचारों से] 'सामाइय' सामायिक रूप 'पढमे सिक्खावए' प्रथम शिक्षाव्रत 'वितहकए' वितथ-मिथ्या-किया जाता है, इस से इन की 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२७॥

भावार्थ—सावद्य प्रवृत्ति तथा दुर्ध्यान का त्याग कर के राग द्वेप वाले प्रसङ्गों में भी समभाव रखना, यह सामायिक रूप पहला शिक्षाव्रत अर्थात् नववाँ व्रत है। इस के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैः—

(१) मन को काबू में न रखना, (२) वचन का संयम न करना, (३) काया की चपलता को न रोकना, (४) अस्थिर बनना अर्थात् कालावधि के पूर्ण होने के पहले ही सामायिक पार लेना और (५) ग्रहण किये हुए सामायिक व्रत को प्रमाद वश भुला देना ॥२७॥

[दसवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे।
देसावगासिअम्मि, बीए सिक्खावए निंदे ॥२८॥ †

---

* आनयने प्रेपणे, शब्दे रूपे च पुद्गलक्षेपे।
देशावकाशिके, द्वितीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥ २८ ॥

† देसावगासियस्स समणो॰ इमे पंच॰, तंजहा—आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहियापुग्गलपक्खेवे।
[आव॰ सू॰, पृ॰ ८३४]

अन्वयार्थ—'आणवणे' बाहर से कुछ मँगाने से 'पेसवणे' बाहर कुछ भेजने से 'सद्दे' खखारने आदि के शब्द से 'रूवे' रूप से 'अ' और 'पुग्गलक्खेवे' ढेला आदि पुद्गल के फेंकने से 'देसावगासिअम्मि' देशावकाशिक नामक 'बीए' दूसरे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत में [दूषण लगा उसकी] 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२८॥

भावार्थ—छठे व्रत में जो दिशाओं का परिमाण और सातवें वृत में जो भोग उपभोग का परिमाण किया हो, उसका प्रतिदिन संक्षेप करना, यह देशावकाशिक रूप दूसरा शिक्षावृत अर्थात् दसवाँ वृत है। इस वृत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) नियमित हद्द के बाहर से कुछ लाना हो तो वृत भङ्ग की धास्ती से स्वयं न जा कर किसी के द्वारा उसे मँगवा लेना, (२) नियमित हद्द के बाहर कोई चीज भेजनी हो तो वृत भङ्ग होने के भय से उस को स्वय न पहुँचा कर दूसरे के मारफत भेजना, (३) नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की जरूरत हुई तो स्वयं न जा सकने के कारण खाँसी, खखार आदि कर के उस शख्स को बुला लेना, (४) नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की इच्छा हुई तो वृत भङ्ग के भय से स्वयं न जाकर हाथ, मुँह आदि अङ्ग दिखा कर उस व्यक्ति को आने

की सूचना दे देना, और (५) नियमित क्षेत्र के बाहर ढेला, पत्थर आदि फेंक कर वहाँ से अभिमत व्यक्ति को बुला लेना ॥२८॥

[ग्यारहवें वृत के अतिचारों की आलोचना]

* संथारुच्चारविही, पमाय तह चेव भोयणाभोए।
पोसहविहिविवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥†

अन्वयार्थ—'संथार' संथारे की और 'उच्चार' लघुनीति-बड़ीनीति—पेशाब-दस्त की 'विही' विधि में 'पमाय' प्रमाद हो जाने से 'तह चेव' तथा 'भोयणाभोए' भोजन की चिन्ता करने से 'पोसहविहिविवरीए' पौषध की विधि विपरीत हुई उसकी 'तइए' तीसरे 'सिक्खावए' शिक्षावृत के विषय में 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२९॥

भावार्थ—आठम चौदस आदि तिथियों में आहार तथा शरीर की शुश्रूषा का और सावद्य व्यापार का त्याग कर के ब्रह्मचर्य्य पूर्वक धर्मक्रिया करना, यह पौषधोपवास नामक तीसरा शिक्षाव्रत अर्थात् ग्यारहवाँ व्रत है। इस वृत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

---

* संस्तरोच्चारविधि,-प्रमादे तथा चैव भोजनाभोगे।
पौषधविधिविपरीते, तृतीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२९॥

† पोसहोववासस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारए, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारए, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमीओ, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमीओ, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपाल [ण] या [आव० सू०, पृ० ८३५]

(१) संथारे की विधि में प्रमाद करना अर्थात् उसका पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (२) अच्छी तरह पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (३) दस्त, पेशाब आदि करने की जगह का पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (४) पडिलेहन प्रमार्जन अच्छी तरह न करना और (५) भोजन आदि की चिन्ता करना कि कब सवेरा हो और कब मैं अपने लिये अमुक चीज वनवाऊँ ॥२९॥

[बारहवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* सचित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएसमच्छरे चेव।
कालाइक्कमदाणे, चउत्थ सिक्खावए निंदे ॥३०॥†

अन्वयार्थ—'सचित्ते' सचित्त को 'निक्खिवणे' डालने से 'पिहिणे' सचित्त के द्वारा ढाँकने से 'ववएस' पराई वस्तु को अपनी और अपनी वस्तु को पराई कहने से 'मच्छरे' मत्सर—ईर्ष्या—करने से 'चेव' और 'कालाइक्कमदाणे' समय बीत जाने पर आमंत्रण करने से 'चउत्थ' चौथे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत में दूषण लगा उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥३०॥

भावार्थ—साधु, श्रावक आदि सुपात्र अतिथि को देश काल का विचार कर के भक्ति पूर्वक अन्न, जल आदि देना,

---

* सचित्ते निक्षेपणे, पिधाने व्यपदेशमत्सरे चैव।
कालातिक्रमदाने, चतुर्थे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥३०॥

† अतिहिसंविभागस्स समणो॰ इमे पंच॰, तंजहा—सच्चित्तनिक्खेवणया, सच्चित्तपिहणया, कालइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया य [आव॰ सू॰, पृ॰८३७]

यह अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षावृत अर्थात् बारहवाँ वृत है । इस के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है । वे अतिचार इस प्रकार हैं :—

(१) साधु को देने योग्य अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु टाल देना, (२) अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढाँक देना, (३) दान करने के लिये पराई वस्तु को अपनी कहना और दान न करने के अभिप्राय से अपनी वस्तु को पराई कहना, (४) मत्सर आदि कषाय पूर्वक दान देना और (५) समय बीत जाने पर भिक्षा आदि के लिये आमन्त्रण करना ॥३०॥

* सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गारिहामि ॥३१॥

अन्वयार्थ--'सुहिएसु' सुखियों पर 'दुहिएसु' दुःखियों पर 'अ' और 'अस्संजएसु' गुरु की निश्रा से विहार करने वाले सुसाधुओं पर तथा असंयतों पर 'रागेण' राग से 'व' अथवा 'दोसेण' द्वेष से 'मे' मैं ने 'जा' जो 'अणुकंपा' दया—भक्ति—की 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'तं' उसकी 'गारिहामि' गर्हा करता हूँ ॥३२॥

---

* सुखितेषु च दुःखितेषु च, या मया अस्वयतेषु (असंयतेषु) अनुकम्पा।
रागेण वा द्वेषेण वा, तां निन्दामि तां च गर्हे ॥३१॥

भावार्थ—जो साधु ज्ञानादि गुण में रत हैं या जो वस्त्र-पात्र आदि उपधि वाले हैं, वे सुखी कहलाते है । जो व्याधि से पीड़ित हैं, तपस्या से खिन्न हैं या वस्त्र-पात्र आदि उपधि से विहीन हैं, वे दुःखी कहे जाते हैं। जो गुरु की निश्रा से—उनकी आज्ञा के अनुसार—वर्तते है, वे साधु अस्वयत कहलाते हैं । जो संयम-हीन हैं, वे असंयत कहे जाते हैं । ऐसे सुखी, दुःखी, अस्वयत और असंयत साधुओं पर यह व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है, यह कुलीन है या यह प्रतिष्ठित है इत्यादि प्रकार के ममत्व-भाव से अर्थात् राग-वश हो कर अनुकम्पा करना तथा यह कंगाल है, यह जाति-हीन है, यह घिनौना है, इस लिये इसे जो कुछ देना हो दे कर जल्दी निकाल दो, इत्यादि प्रकार के घृणाव्यञ्जक-भाव से अर्थात् द्वेष-वश हो कर अनुकम्पा करना । इसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ३१ ॥

* साहूसु संविभागो, न कओ तवचरणकरणजुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३२॥

अन्वयार्थ—'दाणे' देने योग्य अन्न आदि 'फासुअ' प्रासुक—अचित्त 'संते' होने पर भी 'तव' तप और 'चरणकरण' चरण-करण से 'जुत्तेसु' युक्त 'साहूसु' साधुओं का 'संविभागो' आतिथ्य 'न कओ' न किया 'तं' उसकी 'निंदे' निंदा करता हूँ 'च' और 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ३२ ॥

---

* साधुषु संविभागो, न कृतस्तपश्चरणकरणयुक्तेषु ।
सति प्रासुकदाने, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥३२॥

भावार्थ—देने योग्य अन्न-पान आदि अचित्त वस्तुओं के मौजूद होने पर तथा सुसाधु का योग भी प्राप्त होने पर प्रमाद-वश या अन्य किसी कारण से अन्न, वस्त्र, पात्रादिक से उनका सत्कार न किया जाय, इसकी इस गाथा में निन्दा की गई है ॥३२॥

[संलेखना व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* इहलोए परलोए, जीविअ मरणे अ आसंसपओगे ।
पंचविहो अइयारो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥†

अन्वयार्थ—'इहलोए' इस लोक की 'परलोए' परलोक की 'जीविअ' जीवित की 'मरणे' मरण की तथा 'अ' च-शब्द से कामभोग की 'आसंस' इच्छा 'पओगे' करने से 'पंचविहो' पाँच प्रकार का 'अइयारो' अतिचार 'मज्झं' मुझ को 'मरणंते' मरण के अन्तिम समय तक 'मा' मत 'हुज्ज' हो ॥३३॥

भावार्थ—(१) धर्म के प्रभाव से मनुष्य-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना (२) या स्वर्ग-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना, (३) संलेखना (अनशन) व्रत के बहुमान को देख कर जीने की इच्छा करना, (४) दुःख से घबड़ा कर मरण

---

* इहलोके परलोके, जीविते मरणे चाशंसाप्रयोगे ।
पञ्चविधोऽतिचारो, मा मम भवतु मरणान्ते ॥३३॥

† इमीए समणो० इमे पंच०, तंजहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे ।

[आव० सू०, पृ० ८३९]

की इच्छा करना और (५) भोग की वाञ्छा करना; इस प्रकार संलेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं। ये अतिचार मरण पर्यन्त अपने व्रत में न लगें, ऐसी भावना इस गाथा में की गई है ॥३३॥

* काएण काइअस्स, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥३४॥

अन्वयार्थ—'काइअस्स' शरीर द्वारा लगे हुए 'वाइअस्स' वचन द्वारा लगे हुए और 'माणसिअस्स' मन द्वारा लगे हुए 'सव्वस्स' सब 'वयाइआरस्स' व्रतातिचार का क्रमश 'काएण' काय-योग से 'वायाए' वचन-योग से और 'मणसा' मनो-योग से 'पडिक्कमे' प्रतिक्रमण करता हूँ ॥३४॥

भावार्थ—अशुभ शरीर-योग से लगे हुए व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ शरीर-योग से, अशुभ वचन-योग से लगे हुए व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ वचन-योग से और अशुभ मनो-योग से लगे हुए व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ मनो-योग से करने की भावना इस गाथा में की गई है ॥३४॥

---

* कायेन कायिकस्य, प्रतिक्रामामि वाचिकस्य वाचा ।
मनसा मानसिकस्य, सर्वस्य व्रतातिचारस्य ॥३४॥

१—वध, बन्ध आदि । २—कायोत्सर्ग आदि रूप । ३—सहसा-अभ्याख्यान आदि । ४—मिथ्या दुष्कृतदान आदि । ५—शङ्का, काङ्क्षा आदि । ६—अनित्यता आदि भावना रूप ।

* वंदणवयसिक्खागा,-रवेसु सन्नाकसायदंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ॥३५॥

अन्वयार्थ--'वंदणवयसिक्खा' वन्दन, व्रत और शिक्षा 'गारवेसु' अभिमान से 'सन्ना' संज्ञा से 'कसाय' कषाय से या 'दंडेसु' दण्ड से 'गुत्तीसु' गुप्तियों में 'अ' और 'समिईसु' समितियों में 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार लगा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥३५॥

भावार्थ---वन्दन यानी गुरुवन्दन और चैत्यवन्दन, व्रत यानी अणुव्रतादि, शिक्षा यानी ग्रहण और आसेवन इस प्रकार की दो शिक्षाएँ, समिति-ईर्या, भाषा, एषणा इत्यादि पाँच समितियाँ, गुप्ति-

---

* वन्दनव्रतशिक्षागौरवेषु संज्ञाकषायदण्डेषु ।
गुप्तिषु च समितिषु च, योऽतिचारश्च तं निन्दामि ॥३५॥

१---वन्दन, व्रत और शिक्षा का अभिमान 'ऋद्धिगौरव' है।

२---जघन्य अष्ट प्रवचन माता (पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ) और उत्कृष्ट दशवैकालिक सूत्र के षड्जीवनिकाय नामक चौथे अध्ययन तक अर्थ सहित सीखना 'ग्रहण शिक्षा' है। [आव० टी०, पृ० ६३३]

३---प्रातःकालीन नमुक्कार मन्त्र के जप से ले कर श्राद्धदिनकृत्य आदि ग्रन्थ में वर्णित श्रावक के सब नियमों का सेवन करना 'आसेवन शिक्षा' है। [श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति, पृ० १९३]

४---विवेक युक्त प्रवृत्ति करना 'समिति' है। इस के पाँच भेद हैं:-ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणसमिति, और पारिष्ठापनिका समिति। [आव० सू०, पृ० ६१५]

गुप्ति और समिति का आपस में अन्तर---गुप्ति प्रवृत्ति रूप भी है और निवृत्ति

मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियाँ, गौरव—ऋद्धिगौरव आदि तीन प्रकार के गौरव, संज्ञा—आहार, भय आदि चार प्रकार की संज्ञाएँ, कषाय

रूप भी, समिति केवल प्रवृत्ति रूप है । इस लिये जो समितिमान् है वह गुप्तिमान् अवश्य है । क्यों कि समिति भी सत्प्रवृत्तिरूप आंशिक गुप्ति है, परन्तु जो गुप्तिमान् है वह विकल्प से समितिमान् है । क्यों कि सत्प्रवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति पाई जाती है, पर केवल निवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति नहीं पाई जाती । यही बात श्रीहरिभद्रसूरि ने 'प्रविचार अप्रविचार' एसे गूढ शब्दों से कही है। [आव॰ टी॰, पृ॰ ६८२/१]

१—मन आदि को असत्प्रवृत्ति से रोकना और सत्प्रवृत्ति में लगाना 'गुप्ति' है । इस के तीन भेद हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति । [समवायाङ्ग टीका, पृष्ठ ६/१]

२—अभिमान और लालसा को 'गौरव' कहते हैं । इस के तीन भेद हैं (१) धन, पदवी आदि प्राप्त होने पर उस का अभिमान करना और प्राप्त न होने पर उस की लालसा रखना 'ऋद्धिगौरव', (२) घी, दूध, दही आदि रसों की प्राप्ति होने पर उन का अभिमान करना और प्राप्त न होने पर लालसा करना 'रसगौरव' और (३) सुख व आरोग्य मिलने पर उस का अभिमान और न मिलने पर उस की तृष्णा करना 'सातागौरव' है। [समवायाङ्ग सूत्र ३ टी॰, पृ॰ ७/१]

३—'संज्ञा' अभिलाषा को कहते हैं। इस के संक्षेप में चार प्रकार हैं—आहार-संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। [समवायाङ्ग सूत्र ४]

४—संसार में भ्रमण कराने वाले चित्त के विकारों को कषाय कहते हैं। इन के संक्षेप में राग, द्वेष ये दो भेद या, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद हैं। [समवायाङ्ग सूत्र ४]

क्रोध, मान इत्यादि चार कषाय और दण्ड[1]—मनोदण्ड आदि तीन दण्ड; इस प्रकार वन्दनादि जो विधेय (कर्तव्य) हैं उनके न करने से और गौरवादि जो हेय (छोड़ने लायक) हैं उनके करने से जो कोई अतिचार लगा हो, उसकी इस गाथा में निन्दा की गई है ॥३५॥

* सम्मदिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ॥३६॥

अन्वयार्थ—'जइ वि' यद्यपि 'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टि 'जीवो' जीव 'किंचि' कुछ 'पावं' पाप-व्यापार 'हु' अवश्य 'समायरइ' करता है [तो भी] 'सि' उसको 'बंधो' कर्म-बन्ध 'अप्पो' अल्प 'होइ' होता है; 'जेण' क्यों कि वह 'निद्धधसं' निर्दय-परिणाम-पूर्वक [कुछ भी] 'नि' नहीं 'कुणइ' करता है ॥३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वी गृहस्थ श्रावक को अपने अधिकार के अनुसार कुछ पापारम्भ अवश्य करना पड़ता है, पर वह जो कुछ करता है उस में उसके परिणाम कठोर (दया-हीन) नहीं होते; इस लिये उसको कर्म का स्थिति-बन्ध तथा रस-बन्ध औरों की अपेक्षा अल्प ही होता है ॥३६॥

१—जिस अशुभ योग से आत्मा दण्डित—धर्मभ्रष्ट—होता है, उसे दण्ड कहते हैं। इस के मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड ये तीन भेद हैं। [समवा॰ सूत्र ३]

* सम्यग्दृष्टिर्जीवो, यद्यपि खलु पापं समाचरति किञ्चित् ।
अल्पस्तस्य भवति बन्धो, येन न निर्दयं कुरुते ॥३६॥

‡ तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥३७॥

अन्वयार्थ—[श्रावक] 'सपडिक्कमणं' प्रतिक्रमण द्वारा 'सप्परिआवं' पश्चात्ताप द्वारा 'च' और 'सउत्तरगुणं' प्रायश्चित्त-रूप उत्तरगुण द्वारा 'तं पि' उसको अर्थात् अल्प पाप-बन्ध को भी 'खिप्पं' जल्दी 'हु' अवश्य 'उवसामेई' उपशान्त करता है 'व्व' जैसे 'सुसिक्खिओ' कुशल 'विज्जो' वैद्य 'वाहि' व्याधि को ॥३७॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य व्याधि को विविध उपायों से नष्ट कर देता है; इसी प्रकार सुश्रावक सांसारिक कामों से बँधे हुए कर्म को प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त द्वारा क्षय कर देता है ॥३७॥

† जहा विसं कुट्ठगयं, मंतमूलविसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ॥३८॥
एवं अट्ठविहं कम्मं, रागदोससमज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥३९॥

---

‡ तदपि खलु सप्रतिक्रमणं, सपरितापं सोत्तरगुणं च ।
क्षिप्रमुपशमयति, व्याधिमिव सुशिक्षितो वैद्यः ॥३७॥

† यथा विषं कोष्ठगतं, मन्त्रमूलविशारदाः ।
वैद्या घ्नन्ति मन्त्रै,–स्ततस्तद्भवति निर्विषम् ॥३८॥
एवमष्टविधं कर्म, रागद्वेषसमार्जितम् ।
आलोचयँश्च निन्दन्, क्षिप्रं हन्ति सुश्रावकः ॥३९॥

अन्वयार्थ—'जहा' जैसे 'मंतमूलविसारया' मन्त्र और जड़ी-बूटी के जानकार 'विज्जा' वैद्य 'कुट्ठगयं' पेट में पहुँचे हुए 'विसं' जहर को 'मंतेहिं' मन्त्रों से 'हणंति' उतार देते हैं 'तो' जिस से कि 'तं' वह पेट 'निव्विसं' निर्विष 'हवइ' हो जाता है ॥३८॥

'एवं' वैसे ही 'आलोअंतो' आलोचना करता हुआ 'अ' तथा 'निंदंतो' निन्दा करता हुआ 'सुसावओ' सुश्रावक 'रागदोस-समज्जिअं' राग और द्वेष से बँधे हुए 'अट्ठविहं' आठ प्रकार के 'कम्मं' कर्म को 'खिप्पं' शीघ्र 'हणइ' नष्ट कर डालता है ॥३९॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य उदर में पहुँचे हुए विष को भी मन्त्र या जड़ी-बूटी के जरिये से उतार देते हैं; इसी प्रकार सुश्रावक राग-द्वेष-जन्य सब कर्म को आलोचना तथा निन्दा द्वारा शीघ्र क्षय कर डालते हैं ॥३८॥३९॥

* कयपावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ य गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो ॥४०॥

अन्वयार्थ—'कयपावो वि' पाप किया हुआ भी 'मणुस्सो' मनुष्य 'गुरुसगासे' गुरु के पास 'आलोइअ' आलोचना कर के तथा 'निंदिअ' निन्दा करके 'अइरेगलहुओ' पाप के बोझ से हलका 'होइ' हो जाता है 'व्व' जिस प्रकार कि 'ओहरिअभरु' भार के उतर जाने पर 'भारवहो' भारवाहक—कुली ॥४०॥

---

* कृतपापोऽपि मनुष्यः, आलोच्य निन्दित्वा च गुरुसकाशे ।
भवत्यतिरेकलघुको,ऽपहृतभर इव भारवाहकः ॥४०॥

भावार्थ—जिस प्रकार भार उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर का बोझा कम हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा निन्दा करने पर शिष्य के पाप का बोझा भी घट जाता है ॥४०॥

† आवस्सएण एए,—ण सावओ जइ वि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ॥४१॥

अन्वयार्थ—'जइ वि' यद्यपि 'सावओ' श्रावक 'बहुरओ' बहु पाप वाला 'होइ' हो [तथापि वह] 'एएण' इस 'आवस्सएण' आवश्यक क्रिया के द्वारा 'दुक्खाण' दुःखों का 'अंतकिरिअं' नाश 'अचिरेण' थोड़े ही 'कालेण' काल में 'काही' करेगा ॥४१॥

भावार्थ—यद्यपि अनेक आरम्भों के कारण श्रावक को कर्म का बन्ध बराबर होता रहता है तथापि प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया द्वारा श्रावक थोड़े ही समय में दुःखों का अन्त कर सकता है ॥४१॥

[याद नहीं आये हुए अतिचारों की आलोचना]

‡ आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमणकाले ।
मूलगुणउत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४२॥

अन्वयार्थ—'आलोअणा' आलोचना 'बहुविहा' बहुत

---

† आवश्यकेनैतेन श्रावको यद्यपि बहुरजा भवति ।
दुःखानामन्तक्रियां, करिष्यत्यचिरेण कालेन ॥४१॥

‡ आलोचना बहुविधा, न च स्मृता प्रतिक्रमणकाले ।
मूलगुणोत्तरगुणे, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥४२॥

प्रकार की है, परन्तु 'पडिक्कमणकाले' प्रतिक्रमण के समय 'न समरिआ' याद न आई 'य' इस से 'मूलगुण' मूलगुण में और 'उत्तरगुणे' उत्तरगुण में दूषण रह गया 'त उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥४२॥

भावार्थ—मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में लगे हुए अतिचारों की आलोचना शास्त्र में अनेक प्रकार की वर्णित है। उसमें से प्रतिक्रमण करते समय जो कोई याद न आई हो, उस की इस गाथा में निन्दा की गई है॥४२॥

* तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स—

अब्भुट्ठिओमि आरा,-हणाए विरओमि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥४३॥

अन्वयार्थ—'केवलि' केवलि के 'पन्नत्तस्स' कहे हुए 'तस्स' उस 'धम्मस्स' धर्म की—श्रावक धर्म की—'आराहणाए' आराधना करने के लिए 'अब्भुट्ठिओमि' सावधान हुआ हूँ [और उसकी] 'विराहणाए' विराधना से 'विरओमि' हटा हूँ। 'तिविहेण' तीन प्रकार से-मन, वचन, काय से—'पडिकंतो' निवृत्त होकर 'चउव्वीस' चौवीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥४३॥

भावार्थ— मैं केवलि-कथित श्रावक धर्म की आराधना के लिये तैयार हुआ हूँ और उसकी विराधना से विरत हुआ हूँ। मैं

---

* तस्य धर्मस्य केवलि-प्रज्ञप्तस्य—

अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायै विरतोऽस्मि विराधनाया।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनाँश्चतुर्विंशतिम् ॥४३॥

सब पापों का त्रिविध प्रतिक्रमण कर के चौवीस तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ ॥४३॥

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ।
सव्वाइँ ताइँ वंदे, इह संतो तत्थ संताइँ ॥४४॥

अर्थ—पूर्ववत् ।

जावंत के वि साहू, भरहेरवयमहाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं॥४५॥

अर्थ—पूर्ववत् ।

* चिरसंचियपावपणा,-सणीइ भवसयसहस्समहणीए ।
चउवीसजिणविणिग्गय,-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ।४६।

अन्वयार्थ—'चिरसंचियपावपणासणीइ' बहुत काल से इकट्ठे किये हुए पापों का नाश करने वाली 'भवसयसहस्समहणीए' लाखों भवों को मिटाने वाली 'चउवीसजिणविणिग्गय' चौवीस जिनेश्वरों के मुख से निकली हुई 'कहाइ' कथा के द्वारा 'मे' मेरे 'दिअहा' दिन 'वोलंतु' बीतें ॥४६॥

भावार्थ—जो चिरकाल-सञ्चित पापों का नाश करने वाली है, जो लाखों जन्म जन्मान्तरों का अन्त करने वाली है और जो सभी तीर्थङ्करों के पवित्र मुख-कमल से निकली हुई है, ऐसी सर्व-हितकारक धर्म-कथा में ही मेरे दिन व्यतीत हों ॥४६॥

---

* चिरसञ्चितपापप्रणाशन्या भवशतसहस्रमथन्या ।
चतुर्विंशतिजिनविनिर्गत,-कथया गच्छन्तु मम दिवसाः ॥४६॥

* मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥४७॥

अन्वयार्थ—'अरिहन्ता' अरिहन्त 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'साहू' साधु 'सुअ' श्रुत–शास्त्र 'च' और 'धम्मो' धर्म 'मम' मेरे लिये 'मंगलं' मङ्गलभूत हैं, 'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टि वाले 'देवा' देव [मुझको] 'समाहिं' समाधि 'च' और 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिंतु' देवें ॥४७॥

भावार्थ—श्रीअरिहन्त, सिद्ध, साधु, श्रुत और चारित्र-धर्म, ये सब मेरे लिये मङ्गल रूप हैं । मैं सम्यक्त्वी देवों से प्रार्थना करता हूँ कि वे समाधि तथा सम्यक्त्व प्राप्त करने में मेरे सहायक हों ॥४७॥

† पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीयपरूवणाए अ ॥४८॥

अन्वयार्थ—'पडिसिद्धाणं' निषेध किये हुए कार्य को 'करणे' करने पर 'किच्चाणं' करने योग्य कार्य को 'अकरणे' नहीं करने पर 'असद्दहणे' अश्रद्धा होने पर 'तहा' तथा 'विवरीय' विपरीत 'परूवणाए' प्ररूपणा होने पर 'पडिक्कमणं' प्रतिक्रमण किया जाता है ॥४८॥

---

* मम मङ्गलमर्हन्तः, सिद्धाः साधवः श्रुतं च धर्मश्च ।
सम्यग्दृष्टयो देवा, ददतु समाधिं च बोधिं च ॥४७॥

† प्रतिषिद्धानां करणे, कृत्यानामकरणे प्रतिक्रमणम् ।
अश्रद्धाने च तथा, विपरीतप्ररूपणायां च ॥४८॥

भावार्थ—इस गाथा में प्रतिक्रमण करने के चार कारणों का वर्णन किया गया है:—

(१) स्थूल प्राणातिपातादि जिन पाप कर्मों के करने का श्रावक के लिये प्रतिषेध किया गया है उन कर्मों के किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (२) दर्शन, पूजन, सामायिक आदि जिन कर्तव्यों के करने का श्रावक के लिये विधान किया गया है उन के न किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (३) जैनधर्म-प्रतिपादित तत्त्वों की सत्यता के विषय में संदेह लाने पर अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (४) जैनशास्त्रों के विरुद्ध, विचार प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण किया जाता है ॥४८॥

* खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥४९॥

अन्वयार्थ—[मैं] 'सव्वजीवे' सब जीवों को 'खामेमि' क्षमा करता हूँ। 'सव्वे' सब 'जीवा' जीव 'मे' मुझे 'खमंतु' क्षमा करें। 'सव्वभूएसु' सब जीवों के साथ 'मे' मेरी 'मित्ती' मित्रता है। 'केणई' किसी के साथ 'मज्झ' मेरा 'वेरं' वैरभाव 'न' नहीं है ॥४९॥

भावार्थ—किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो तो मैं

---

* क्षमयामि सर्वजीवान्, सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ॥४९॥

उसको खमाता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ। वैसे ही मैं ने भी किसी का कुछ अपराध किया हो तो वह मुझे क्षमा करे। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ शत्रुता नहीं है ॥४९॥

‡ एवमहं आलोइअ, निंदिय गरहिअ दुगंछिउं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥५०॥

अन्वयार्थ—'एव' इस प्रकार 'अहं' मैं 'सम्मं' अच्छी तरह 'आलोइअ' आलोचना कर के 'निंदिय' निन्दा कर के 'गरहिअ' गर्हा करके और 'दुगंछिउं' जुगुप्सा कर के 'तिविहेण' तीन प्रकार—मन, वचन और शरीर—से 'पडिक्कंतो' निवृत्त हो कर 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥५०॥

भावार्थ—मैं ने पापों की अच्छी तरह आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा की; इस तरह त्रिविध प्रतिक्रमण करके अब मैं अन्त में फिर से चौबीस जिनेश्वरों को वन्दन करता हूँ ॥५०॥

३५—अब्भुट्ठियो [गुरुक्षामणा] सूत्र।

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओऽहं, अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं।

---

‡ एवमहमालोच्य, निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक्।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनाँश्चतुर्विंशतिम् ॥५०॥

† इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! अभ्युत्थितोऽहमाभ्यन्तरदैवसिकं क्षमयितुम्।

अन्वयार्थ—'अहं' मैं 'अब्भितरदेवासिअं' दिन के अन्दर किये हुए अपराध को 'खामेउं' खमाने के लिये 'अब्भुट्ठिओ' तत्पर हुआ हूँ, इस लिये 'भगवन्' हे गुरो! [आप] 'इच्छाकारेण' इच्छा पूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिए।

* इच्छं, खामेमि देवसिअं।

अन्वयार्थ–'इच्छं' आप की आज्ञा प्रमाण है। 'खामेमि देवसिअं' अब मैं दैनिक अपराध को खमाता हूँ।

‡ जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणये, वेआवच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए, जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अन्वयार्थ—हे गुरो! 'जं किंचि' जो कुछ 'अपत्तिअं' अप्रीति या 'परपत्तिअं' विशेष अप्रीति [हुई उसका पाप निष्फल हो] तथा 'भत्ते' आहार में 'पाणे' पानी में 'विणये' विनय में 'वेआवच्चे' सेवा-शुश्रूषा में 'आलावे' एक बार बोलने में 'संलावे' बार बार बोलने में 'उच्चासणे' ऊँचे आसन पर बैठने में 'समासणे' बराबर के आसन पर बैठने में 'अंतरभासाए' भाषण के बीच बोलने में या 'उवरिभासाए' भाषण के बाद बोलने में 'मज्झ'

---

* इच्छामि। क्षमयामि दैवसिकम्।

‡ यत्किञ्चिदप्रीतिकं, पराप्रीतिकं; भक्ते, पाने, विनये, वैयावृत्ये, आलापे, संलापे, उच्चासने, समासने, अन्तर्भाषायां, उपरिभाषायां, यत्किञ्चिन्मम विनयपरिहीनं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ, अहं न जाने, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

मुझ से 'सुहुमं' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरं' स्थूल 'जं किंचि' जो कुछ 'विनयपरिहीणं' अविनय हुई जिसको 'तुब्भे' तुम 'जाणह' जानते हो 'अहं' मैं 'न' नहीं 'जाणामि' जानता 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो।

भावार्थ—हे गुरो! मुझ से जो कुछ सामान्य या विशेष रूप से अप्रीति हुई उसके लिये मिच्छा मि दुक्कडं। इसी तरह आपके आहार पानी के विषय में या विनय वैयावृत्य के विषय में, आपके साथ एक बार बात-चीत करने में या अनेक बार बात-चीत करने में, आपसे ऊँचे आसन पर बैठने में या बराबर के आसन पर बैठने में, आपके संभाषण के बीच या बाद बोलने में, मुझ से थोड़ी बहुत जो कुछ अविनय हुई, उसकी मैं माफी चाहता हूँ।

—:o:—

३६—आयरिअउवज्झाए सूत्र।

* आयरिअउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१॥

अन्वयार्थ—'आयरिअ' आचार्य पर 'उवज्झाए' उपाध्याय पर 'सीसे' शिष्य पर 'साहम्मिए' साधर्मिक पर 'कुल' कुल पर 'अ' और 'गणे' गण पर 'मे' मैं ने 'जे केइ' जो कोई

* आचार्योपाध्याये, शिष्ये साधर्मिके कुलगणे च।
ये मे केचित्कषायाः, सर्वांस्त्रिविधेन क्षमयामि ॥१॥

'कसाया' कषाय किये 'सव्वे' उन सब की 'तिविहेण' त्रिविध अर्थात् मन, वचन और काय से 'खामेमि' क्षमा चाहता हूँ ॥१॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक (समान धर्म वाला), [1]कुल और गण; इन के ऊपर मैं ने जो कुछ कषाय किये हों उन सब की उन लोगों से मैं मन, वचन और काय से माफी चाहता हूँ ॥१॥

† सव्वस्स समणसंघ,-स्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

अन्वयार्थ—'सीसे' सिर पर 'अंजलिं करिअ' अञ्जलि कर के 'भगवओ' पूज्य 'सव्वस्स' सब 'समणसंघस्स' मुनि-समुदाय से [अपने] 'सव्वं' सब [अपराध] को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'अहयं पि' मैं भी 'सव्वस्स' [उन के] सब अपराध को 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—हाथ जोड़ कर सब पूज्य मुनिगण से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और मैं भी उन के प्रति क्षमा करता हूँ ॥२॥

१—एक आचार्य की आज्ञा में रहने वाला शिष्य-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। ऐसे अनेक गच्छों का समुदाय 'कुल' और अनेक कुलों का समुदाय 'गण' कहलाता है। [धर्मसंग्रह उत्तर विभाग, पृष्ठ १२९]

† सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥२॥

‡ सव्वस्स जीवरासि,-स्स भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥३॥

अन्वयार्थ—'सव्वस्स' सम्पूर्ण 'जीवरासिस्स' जीव राशि से 'सव्वं' [अपने] सब अपराध को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'धम्मनिहिअनियचित्तो' धर्म में निज चित्त को स्थापन किये हुए 'अहयं पि' मै भी 'सव्वस्स' [उन के] सब अपराध को 'भावओ' भाव-पूर्वक 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—धर्म में चित्त को स्थित कर के सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और स्वयं भी उन के अपराध को हृदय से क्षमा करता हूँ ॥३॥

३७—नमोऽस्तु वर्धमानाय ।

* इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाणं ।

अर्थ—हम 'अणुसट्ठिं' गुरु-आज्ञा 'इच्छामो' चाहते हैं। 'खमासमणाणं' क्षमाश्रमणों को 'नमो' नमस्कार हो ।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ।

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयाऽवाप्तमोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥१॥

---

‡ सर्वस्य जीवराशेर्भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः ।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥३॥

* इच्छामः अनुशास्तिं, नमः क्षमाश्रमणेभ्यः ।

अन्वयार्थ—'कर्मणा' कर्म से 'स्पर्धमानाय' मुकाबिला करने वाले, और अन्त में 'तज्जयावाप्तमोक्षाय' उस पर विजय पा कर मोक्ष पाने वाले, तथा 'कुतीर्थिनाम्' मिथ्यात्वियों के लिये 'परोक्षाय' अगम्य, ऐसे 'वर्धमानाय' श्रीमहावीर को 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥१॥

भावार्थ—जो कर्म-वैरियों के साथ लड़ते लड़ते अन्त में उन को जीत कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, तथा जिन का स्वरूप मिथ्यामतियों के लिये अगम्य है, ऐसे प्रभु श्रीमहावीर को मेरा नमस्कार हो ॥१॥

येषां विकचारविन्दराज्या, ज्यायःक्रमकमलावलिं दधत्या।
सदृशैरतिसङ्गतं प्रशस्यं, कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः॥२॥

अन्वयार्थ—'येषां' जिन के 'ज्यायःक्रमकमलावलिं' अति-प्रशंसा-योग्य चरण-कमलों की पङ्क्ति को 'दधत्या' धारण करने वाली, ऐसी 'विकचारविन्दराज्या' विकस्वर कमलों की पङ्क्ति के निमित्त से अर्थात् उसे देख कर [विद्वानों ने] 'कथितं' कहा है, कि 'सदृशैः' सदृशों के साथ 'अतिसङ्गतं' अत्यन्त समागम होना 'प्रशस्यं' प्रशंसा के योग्य है, 'ते' वे 'जिनेन्द्राः' जिनेन्द्र 'शिवाय' मोक्ष के लिये 'सन्तु' हों ॥२॥

भावार्थ—बराबरी वालों के साथ अत्यन्त मेल का होना प्रशंसा करने योग्य है, यह कहावत जो सुनी जाती है, उसे जिनेश्वरों के सुन्दर चरणों को धारण करने वाली ऐसी

रचित खिले हुए कमलों की पङ्क्ति को देख कर ही विद्वानों ने प्रचलित किया है, ऐसे जिनेश्वर सब के लिये कल्याणकारी हों ॥२॥

कषायतापार्दितजन्तुनिर्वृतिं, करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः ।
स शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभो, दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ३

अन्वयार्थ—'य' जो 'गिराम्' वाणी का 'विस्तर' विस्तार 'जैनमुखाम्बुदोद्गत' जिनेश्वर के मुखरूप मेघ से प्रगट हो कर 'कषायतापार्दितजन्तु' कषाय के ताप से पीडित जन्तुओं को 'निर्वृतिं' शान्ति 'करोति' करता है [और इसी से जो] 'शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभ' ज्येष्ठ मास में होने वाली वृष्टि के समान है 'स' वह 'मयि' मुझ पर 'तुष्टिं' तुष्टि 'दधातु' धारण करे ॥३॥

भावार्थ—भगवान् की वाणी ज्येष्ठ मास की मेघ वर्षा के समान अतिशीतल है, अर्थात् जैसे ज्येष्ठ मास की वृष्टि ताप-पीडित लोगों को शीतलता पहुँचाती है, वैसे ही भगवान् की वाणी कषाय-पीडित प्राणियों को शान्ति लाभ कराती है; ऐसी शान्त वाणी का मुझ पर अनुग्रह हो ॥३॥

३८—विशाललोचन ।

विशाललोचनदलं, प्रोद्यद्दन्तांशुकेसरम् ।
प्रातर्वीरजिनेन्द्रस्य, मुखपद्मं पुनातु वः ॥१॥

अन्वयार्थ—'विशाललोचनदल' विशाल नेत्र ही जिस के पत्ते हैं, 'प्रोद्यद्दन्तांशुकेसरं' अत्यन्त प्रकाशमान दाँत की किरणें ही

जिस के केसर हैं, ऐसा 'वीरजिनेन्द्रस्य' श्रीमहावीर जिनेश्वर का 'मुखपद्मं' मुखरूपी कमल 'प्रातः' प्रातःकाल में 'व.' तुम को 'पुनातु' पवित्र करे ॥१॥

भावार्थ—जिस में बड़ी बड़ी आँखें पत्रों की सी है, और चमकीली दाँतों की किरणें केसर की सी है, ऐसा वीर प्रभु का कमल-सदृश मुख प्रात काल में तुम सब को अपने दर्शन से पवित्र करे ॥१॥

येषामभिषेककर्म कृत्वा, मत्ता हर्षभरात्सुखं सुरेन्द्राः ।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं, प्रातः सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः २

अन्वयार्थ—'येषा' जिन के 'अभिषेककर्म' अभिषेक-कार्य को 'कृत्वा' कर के 'हर्षभरात्' हर्ष की अधिकता से 'मत्ताः' उन्मत्त हो कर 'सुरेन्द्रा' देवेन्द्र 'नाकं' स्वर्गरूप 'सुखं' सुख को 'तृणमपि' तिनके के बराबर भी 'नैव' नहीं 'गणयन्ति' गिनते हैं 'ते' वे 'जिनेन्द्रा' जिनेश्वर 'प्रातः' प्रातःकाल में 'शिवाय' कल्याण के लिये 'सन्तु' हों ॥२॥

भावार्थ—जिनेश्वरों का अभिषेक करने से इन्द्रों को इतना अधिक हर्ष होता है कि वे उस हर्ष के सामने अपने स्वर्गीय सुख को तृण-तुल्य भी नहीं गिनते हैं; ऐसे प्रभावशाली जिनेश्वर देव प्रातःकाल में कल्याणकारी हों ॥२॥

कलङ्कनिर्मुक्तममुक्तपूर्णतं, कुतर्कराहुग्रसनं सदोदयम् ।
अपूर्वचन्द्रं जिनचन्द्रभाषितं, दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम्।३।

अन्वयार्थ—'कलङ्कनिर्मुक्तम्' निष्कलङ्क, 'अमुक्तपूर्णतं' पूर्णता युक्त, 'कुतर्कराहुग्रसनं' कुतर्करूप राहु को ग्रास करने वाले, 'सदोदयम्' निरन्तर उदयमान और 'बुधैर्नमस्कृतम्' विद्वानों द्वारा प्रणत; ऐसे 'जिनचन्द्रभाषित' जिनेश्वर के आगमरूप 'अपूर्वचन्द्रं' अपूर्व चन्द्र की 'दिनागमे' प्रात काल में 'नौमि' स्तुति करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—जैन-आगम, चन्द्र से भी वढ़ कर है, क्यों कि चन्द्र में कलङ्क है, उस की पूर्णता कायम नहीं रहती, राहु उस को ग्रास कर लेता है, वह हमेशा उदयमान नहीं रहता, परन्तु जैनागम में न तो किसी तरह का कलङ्क है, न उस की पूर्णता कम होती है, न उस को कुतर्क दूपित ही करता है; इतना ही नहीं बल्कि, वह सदा उदयमान रहता है, इसी से विद्वानों ने उस को सिर झुकाया है; ऐसे अलौकिक जैनागम-चन्द्र की प्रातः-काल में मैं स्तुति करता हूँ ॥३॥

३९--श्रुतदेवता की स्तुति ।

* सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।

अर्थ—श्रुतदेवता—सरस्वती—वाग्देवता—की आराधना के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ ।

---

* श्रुतदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम् ।

* सुअदेवया भगवई, नाणावरणीअकम्मसंघायं।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥१॥

अन्वयार्थ—'जेसिं' जिन की 'सुअसायरे' श्रुत-सागर पर 'सययं' निरन्तर 'भत्ती' भक्ति है 'तेसिं' उन के 'नाणावरणीअकम्मसंघायं' ज्ञानावरणीय कर्म-समूह को 'भगवई' पूज्य 'सुअदेवया' श्रुतदेवता 'खवेउ' क्षय करे ॥१॥

भावार्थ—भगवती सरस्वती; उन भक्तों के ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करे, जिन की भक्ति सिद्धान्तरूप समुद्र पर अटल है ॥१॥

४०—क्षेत्रदेवता की स्तुति।

× खित्तदेवयाए करेमि काउस्सगं। अन्नत्थ०।

अर्थ—क्षेत्रदेवता की आराधना के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ।

‡ जीसे खित्ते साहू, दंसणनाणेहिँ चरणसहिएहिं।
साहंति मुक्खमग्गं, सा देवी हरउ दुरिआइं ॥१॥

---

* श्रुतदेवता भगवती, ज्ञानावरणीयकर्मसंघातम्।
तेषां क्षपयतु सततं, येषा श्रुतसागरे भक्तिः ॥१॥

× क्षेत्रदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम्।

‡ यस्या क्षेत्रे साधवो, दर्शनज्ञानाभ्यां चरणसहिताभ्याम्।
साधयन्ति मोक्षमार्गं, सा देवी हरतु दुरितानि ॥१॥

अन्वयार्थ—'जीसे' जिस के 'खित्ते' क्षेत्र में 'साहू' साधु 'चरणसहिएहिं' चारित्र-सहित 'दंसणनाणेहिं' दर्शन और ज्ञान से 'मुक्खमग्गं' मोक्षमार्ग को 'साहंति' साधते हैं 'सा' वह 'देवी' क्षेत्र-देवी 'दुरिआइ' पापों को 'हरउ' हरे ॥१॥

भावार्थ—साधुगण जिस के क्षेत्र में रह कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र का साधन करते है, वह क्षेत्र-अधिष्ठायिका देवी विघ्नों का नाश करे ॥१॥

४१—कमलदल स्तुति ।

कमलदलविपुलनयना, कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।
कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'कमलदलविपुलनयना' कमल पत्र-समान विस्तृत नेत्र वाली 'कमलमुखी' कमल-सदृश मुख वाली 'कमलगर्भसमगौरी' कमल के मध्य भाग की तरह गौर वर्ण वाली 'कमले स्थिता' कमल पर स्थित, ऐसी 'भगवती श्रुतदेवता' श्रीसरस्वती देवी 'सिद्धिम्' सिद्धि 'ददातु' देवे ॥१॥

भावार्थ—भगवती सरस्वती देवी सिद्धि देवे; जिस के नेत्र; कमल-पत्र के समान विशाल हैं, मुख कमलवत् सुन्दर है, वर्ण कमल के गर्भ की तरह गौर है तथा जो कमल पर स्थित है ॥१॥

१—स्त्रियाँ श्रुतदेवता की स्तुति के स्थान पर इस स्तुति को पढ़ें ।

४२—अड्ढाइज्जेसु [मुनिवन्दन] सूत्र ।

† अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पनरससु कम्मभूमीसु, जावंत केवि साहू, रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा, पंचमहव्वय-धारा अट्ठारससहस्ससीलंगधारा, अक्ख(क्खु)यायारचरित्ता,

---

† अर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, यावन्तः केऽपि साधवो रजोहरणगुच्छकपतद्ग्रहधाराः, पञ्चमहाव्रतधाराः, अष्टादश-सहस्रशीलाङ्गधाराः, अक्षताचारचारित्राः, तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे ॥१॥

१—शीलाङ्ग के १८००० भेद इस प्रकार किये हैं:—३ योग, ३ करण, ४ संज्ञाएँ, ५ इन्द्रियाँ, १० पृथ्वीकाय आदि (५ स्थावर, ४ त्रस और १ अजीव) और १० यति-धर्म; इन सब को आपस में गुणने से १८००० भेद होते हैं। जैसे:—क्षान्तियुक्त, पृथ्वीकायसंरक्षक, श्रोत्रेन्द्रिय को संवरण करने वाला और आहार-संज्ञा रहित मुनि मन से पाप-व्यापार न करे। इस प्रकार क्षान्ति के स्थान में आर्जव मार्दव आदि शेष ९ यति-धर्म कहने से कुल १० भेद होते हैं। ये दस भेद 'पृथ्वीकायसंरक्षक' पद के संयोग से हुए। इसी तरह जलकाय से ले कर अजीव तक प्रत्येक के दस दस भेद करने से कुल १०० भेद होते हैं। ये सौ भेद 'श्रोत्रेन्द्रिय' पद के संयोग से हुए। इसी प्रकार चक्षु आदि अन्य चार इन्द्रियों के सम्बन्ध से चार सौ भेद, कुल ५०० भेद। ये पाँच सौ भेद 'आहार-संज्ञा' पद के सम्बन्ध से हुए, अन्य तीन संज्ञाओं के सम्बन्ध से पन्द्रह सौ, कुल २००० भेद। ये दो हजार 'करण' पदकी योजना से हुए, कराना और अनुमोदन पदके सबन्ध से भी दो दो हजार भेद, कुल ६००० भेद। ये छह हजार भेद मन के सम्बन्ध से हुए; वचन और काय के संबन्ध से भी छह छह हजार, सब मिला कर १८००० भेद होते हैं।

जोए करणे सन्ना, इंदिय भोमाइ समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारससहस्स निप्फत्ती ॥
[दशवैकालिक-निर्युक्ति गाथा १७७, पृ० —

ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥१॥

अन्वयार्थ—'अड्ढाइज्जेसु' अढ़ाई 'दीवसमुद्देसु' द्वीप-समुद्र के अन्दर 'पनरससु' पन्द्रह 'कम्मभूमीसु' कर्मभूमियों में 'रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा' रजोहरण, गुच्छक और पात्र धारण करने वाले, 'पंचमहव्वयधारा' पाँच महाव्रत धारण करने वाले, 'अट्ठारससहस्ससीलंगधारा' अठारह हज़ार शीलाङ्ग धारण करने वाले और 'अक्खयायारचरित्ता' अखण्डित आचार तथा अखण्डित चारित्र वाले, 'जावंत' जितने और 'जे के वि' जो कोई 'साहू' साधु हैं 'ते' उन 'सव्वे' सब को 'मणसा' मन से—भाव-पूर्वक—'सिरसा मत्थएण' सिर के अग्रभाग से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—ढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्दर पन्द्रह कर्म-भूमियों में द्रव्य-भाव-उभयलिङ्गधारी[1][2] जितने साधु हैं उन सब को भाव-पूर्वक सिर झुका कर मैं वन्दन करता हूँ ॥१॥

---:o:---

४३—वरकनक सूत्र ।

वरकनकशङ्खविद्रुम,-मरकतघनसन्निभं विगतमोहम् ।
सप्ततिशतं जिनानां, सर्वामरपूजितं वन्दे ॥१॥

अन्वयार्थ—'वरकनकशङ्खविद्रुममरकतघनसन्निभं' श्रेष्ठ

१-गुच्छक, पात्र आदि द्रव्यलिङ्ग हैं। २-महाव्रत, शीलाङ्ग, आचार आदि भावलिङ्ग हैं।

सुवर्ण, शङ्ख, प्रवाल–मूँगे, नीलम और मेघ के समान वर्ण वाले, 'विगतमोहम्' मोह-रहित और 'सर्वामरपूजितं' सब देवों के द्वारा पूजित, 'सप्ततिशतं' एक सौ सत्तर *(१७०) 'जिनानां' जिन-वरों को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—मैं १७० तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ। ये सभी निर्मोह होने के कारण समस्त देवों के द्वारा पूजे जाते हैं। वर्ण इन सब का भिन्न भिन्न होता है—कोई श्रेष्ठ सोने के समान पीले वर्ण वाले, कोई शङ्ख के समान सफेद वर्ण वाले, कोई मूँगे के समान लाल वर्ण वाले, कोई मरकत के समान नील वर्ण वाले और कोई मेघ के समान श्याम वर्ण वाले होते हैं ॥१॥
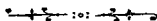
४४—लघु-शान्ति स्तव ।

शान्तिं शान्तिनिशान्तं, शान्तं शान्ताऽशिवं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्तिनिमित्तं, मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि ॥१॥

---

* यह, एक समय में पाई जाने वाली तीर्थङ्करों की उत्कृष्ट संख्या है।

१—इस की रचना नाडुल नगर में हुई थी। शाकंभरी नगर में मारी का उपद्रव फैलने के समय शान्ति के लिये प्रार्थना की जाने पर बृहद्-गच्छीय श्रीमानदेव सूरि ने इस को रचा था। पद्मा, जया, विजया और अपरा-जिता, ये चारों देवियाँ उक्त सूरिकी अनुगामिनी थीं। इस लिये इस स्तोत्र के पढ़ने, सुनने और इस के द्वारा मन्त्रित जल छिड़कने आदि से शान्ति हो गई। इस को दैवसिक-प्रतिक्रमण में दाखिल हुए करीब पाँच सौ वर्ष हुए।

अन्वयार्थ—'शान्तिनिशान्तं' शान्ति के मन्दिर, 'शान्तं' राग-द्वेष-रहित, 'शान्ताऽशिवं' उपद्रवों को शान्त करने वाले और 'स्तोतुः शान्तिनिमित्तं' स्तुति करने वाले की शान्ति के कारणभूत, 'शान्तिं' श्रीशान्तिनाथ को 'नमस्कृत्य' नमस्कार कर के 'शान्तये' शान्ति के लिये 'मन्त्रपदैः' मन्त्र-पदों से 'स्तौमि' स्तुति करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति के आधार हैं, राग-द्वेष-रहित हैं, उपद्रवों के मिटाने वाले हैं और भक्त जन को शान्ति देने वाले हैं; इसी कारण मैं उन्हें नमस्कार कर के शान्ति के लिये मन्त्र-पदों से, उन की स्तुति करता हूँ ॥१॥

ओमितिनिश्चितवचसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम् ।
शान्तिजिनाय जयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—'ओमितिनिश्चितवचसे' ॐ इस प्रकार के निश्चित वचन वाले, 'भगवते' भगवान्, 'पूजाम्' पूजा 'अर्हते' पाने के योग्य, 'जयवते' राग-द्वेष को जीतने वाले, 'यशस्विने' कीर्ति वाले और 'दमिनाम्' इन्द्रिय-दमन करने वालों—साधुओं—के

वृद्ध-परम्परा ऐसी है कि पहिले, लोग इस स्तोत्र को शान्ति के लिये साधु व यति के मुख से सुना करते थे । उदयपुर में एक वृद्ध यति बार बार इसके सुनाने से ऊब गये, तब उन्हों ने यह नियम कर दिया कि 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ' के कायोत्सर्ग के बाद—प्रतिक्रमण के अन्त में—इस शान्ति को पढ़ा जाय, ता कि सब सुन सकें । तभी से इस का प्रतिक्रमण में समावेश हुआ है ।

'स्वामिने' नाथ 'शान्तिजिनाय' श्रीशान्ति जिनेश्वर को 'नमो नमः' बार बार नमस्कार हो ॥२॥

भावार्थ—'ओ३म्' यह पद निश्चितरूप से जिन का वाचक है, जो भगवान् हैं, जो पूजा पाने के योग्य है, जो राग-द्वेष को जीतने वाले है, जो कीर्ति वाले है और जो जितेन्द्रियों के नायक है, उन श्रीशान्तिनाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो ॥२॥

सकलातिशेषकमहा,-सम्पत्तिसमन्विताय शस्याय ।
त्रैलोक्यपूजिताय च, नमो नमः शान्तिदेवाय ॥३॥

अन्वयार्थ—'सकलातिशेषकमहासम्पत्तिसमन्विताय' सम्पूर्ण अतिशयरूप महासम्पत्ति वाले, 'शस्याय' प्रशंसा-योग्य 'च' और 'त्रैलोक्यपूजिताय' तीन लोक में पूजित, 'शान्तिदेवाय' श्रीशान्तिनाथ को 'नमो नम' बार बार नमस्कार हो ॥३॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो । वे अन्य सब सम्पत्ति को मात करने वाली चौंतीस अतिशयरूप महासम्पत्ति से युक्त हैं और इसी से वे प्रशंसा-योग्य तथा त्रिभुवन-पूजित है ॥३॥

सर्वामरसुसमूह,-स्वामिकसंपूजिताय निजिताय ।
भुवनजनपालनोद्यत,-तमाय सततं नमस्तस्मै ॥४॥
सर्वदुरितौघनाशन,-कराय सर्वाऽशिवप्रशमनाय ।
दुष्टग्रहभूतपिशाच,-शाकिनीनां प्रमथनाय ॥५॥

अन्वयार्थ—'सर्वाऽमरसुसमूहस्वामिकसंपूजिताय' देवों के सब समूह और उन के स्वामियों के द्वारा पूजित, 'निजिताय' अजित, 'भुवनजनपालनोद्यततमाय' जगत् के लोगों का पालन करने में अधिक तत्पर, 'सर्वदुरितौघनाशनकराय' सब पाप-समूह का नाश करने वाले, 'सर्वाशिवप्रशमनाय' सब अनिष्टों को शान्त करने वाले, 'दुष्टग्रहभूतपिशाचशाकिनीनां प्रमथनाय' दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच और दुष्ट शाकिनियों को दवाने वाले, 'तस्मै' उस [श्रीशान्तिनाथ] को 'सततं नमः' निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥५॥

भावार्थ—जो सब प्रकार के देवगण और उन के नायकों के द्वारा पूजे गये है; जो सब से अजित हैं; जो सब लोगों का पालन करने में विशेष सावधान हैं; जो सब तरह के पाप-समूह को नाश करने वाले हैं; जो अनिष्टों को शान्त करने वाले हैं और जो दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच तथा दुष्ट शाकिनी के उपद्रवों को दवाने वाले है, उन श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर को निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥५॥

यस्येतिनाममन्त्र,-प्रधानवाक्योपयोगकृततोषा ।
विजया कुरुते जनहित,-मिति च नुता नमत तं शान्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—'नुता' स्तुति प्राप्त 'विजया' विजया देवी 'यस्य' जिस के 'इतिनाममन्त्रप्रधानवाक्य' पूर्वोक्त नामरूप प्रधान मन्त्र-वाक्य के 'उपयोगकृततोषा' उपयोग से सन्तुष्ट हो कर 'जनहितं'

लोगों का हित 'कुरुते' करती है 'इति' इस लिये 'तं शान्तिम्' उस शान्तिनाथ भगवान् को 'नमत' तुम नमस्कार करो ॥६॥

भावार्थ—हे भव्यो ! तुम श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करो । भगवान् का नाम महान् मन्त्र-वाक्य है । इस मन्त्र के उच्चारण से विजया देवी प्रसन्न होती है और प्रसन्न हो कर लोगों का हित करती है ॥६॥

भवतु नमस्ते भगवति!, विजये! सुजये! परापरैरजिते! ।
अपराजिते! जगत्यां, जयतीति जयावहे! भवति! ॥७॥

अन्वयार्थ—'जगत्यां' जगत् में 'जयति' जय पा रही है, 'इति' इसी कारण 'जयावहे'! औरों को भी जय दिलाने वाली, 'परापरैः' बड़ों से तथा छोटों से 'अजिते'! अजित, 'अपराजिते'! पराजय को अप्राप्त, 'सुजये'! सुन्दर जय वाली, 'भवति'! हे श्रीमति, 'विजये'! विजया 'भगवति!' देवि ! 'ते' तुझ को 'नमः' नमस्कार 'भवतु' हो ॥७॥

भावार्थ—हे श्रीमति विजया देवि ! तुझ को नमस्कार हो । तू श्रेष्ठ जय वाली है; तू छोटों बड़ों सब से अजित है; तू ने कहीं भी पराजय नहीं पाई है; जगत में तेरी जय हो रही है; इसी से तू दूसरों को भी जय दिलाने वाली है ॥७॥

सर्वस्यापि च सङ्घस्य, भद्रकल्याणमंगलप्रददे ।
साधूनां च सदा शिव,-सुतुष्टिपुष्टिप्रदे जीयाः ॥८॥

अन्वयार्थ—'सर्वस्यापि च सङ्घस्य' सकल संघ को

'भद्र-कल्याण-मंगल-प्रददे' सुख, शान्ति और मंगल देने वाली, 'च' तथा 'सदा' हमेशा 'साधूना' साधुओं के 'शिवसुतुष्टिपुष्टि-प्रदे' कल्याण और सन्तोष की पुष्टि करने वाली हे देवि! 'जीयाः' तेरी जय हो ॥८॥

भावार्थ—हे देवि! तेरी जय हो, क्यों कि तू चतुर्विध-संघ को सुख देने वाली, उसकी बाधाओं को हरने वाली और उस का मंगल करने वाली है तथा तू सदैव मुनियों के कल्याण, सन्तोष और धर्म-वृद्धि को करने वाली है ॥८॥

भव्यानां कृतसिद्धे!, निर्वृतिनिर्वाणजननि! सत्वानाम्।
अभयप्रदाननिरते!, नमोऽस्तु स्वस्तिप्रदे! तुभ्यम् ॥९॥

अन्वयार्थ—'भव्याना' भव्यों को 'कृतसिद्धे!' सिद्धि देने वाली; 'निर्वृतिनिर्वाणजननि!' शान्ति और मोक्ष देने वाली, 'सत्त्वानाम्' प्राणियों को 'अभयप्रदाननिरते!' अभय-प्रदान करने में तत्पर; और 'स्वस्तिप्रदे' कल्याण देने वाली हे देवि! 'तुभ्यम्' तुझ को 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥९॥

भावार्थ—हे देवि! तुझ को नमस्कार हो। तू ने भव्यों की कार्य-सिद्धि की है; तू शान्ति और मोक्ष को देने वाली है; तू प्राणिमात्र को अभय-प्रदान करने में रत है और तू कल्याण-कारिणी है ॥९॥

भक्तानां जन्तूनां, शुभावहे नित्यमुद्यते! देवि!
सम्यग्दृष्टीनां धृति,—रतिमतिबुद्धिप्रदानाय ॥१०॥

जिनशासननिरतानां, शान्तिनतानां च जगति जनतानाम् ।
श्रीसम्पत्कीर्तियशो,-वर्द्धनि ! जय देवि ! विजयस्व ॥११॥

अन्वयार्थ—'भक्तानां जन्तूनां' भक्त जीवों का 'शुभावहे!' भला करने वाली, 'सम्यग्दृष्टीनां' सम्यक्त्वियों को 'धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानाय' धीरज, प्रीति, मति और बुद्धि देने के लिये 'नित्यम्' हमेशा 'उद्यते !' तत्पर, 'जिनशासननिरतानां' जैन-धर्म में अनुराग वाले तथा 'शान्तिनतानां' श्रीशान्तिनाथ को नमे हुए 'जनतानाम्' जनसमुदाय की 'श्रीसम्पत्कीर्तियशो वर्द्धनि' लक्ष्मी, सम्पत्ति, कीर्त्ति और यश को बढ़ाने वाली 'देवि !' हे देवि ! 'जगति' जगत में 'जय' तेरी जय हो तथा 'विजयस्व' विजय हो ॥१०॥११॥

भावार्थ—हे देवि ! जगत् में तेरी जय-विजय हो । तू भक्तों का कल्याण करने वाली है; तू सम्यक्त्वियों को धीरज, प्रीति, मति तथा बुद्धि देने के लिये निरन्तर तत्पर रहती है और जो लोग जैन-शासन के अनुरागी तथा श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमन करने वाले हैं; उन की लक्ष्मी, सम्पत्ति तथा यश-कीर्त्ति को बढ़ाने वाली है ॥१०॥११॥

सलिलानलविषविषधर,-दुष्टग्रहराजरोगरणभयतः ।
राक्षसरिपुगणमारी,-चौरेतिश्वापदादिभ्यः ॥१२॥
अथ रक्ष रक्ष सुशिवं, कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति ।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्ति च कुरु कुरु त्वम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—'अथ' अब 'सलिल' पानी, 'अनल' अग्नि, 'विष' जहर, 'विषधर' साँप, 'दुष्टग्रह' बुरे ग्रह, 'राज' राजा, 'रोग' बीमारी और 'रण' युद्ध के 'भयत.' भय से; तथा 'राक्षस' राक्षस, 'रिपुगण' वैरि-समूह, 'मारी' प्लेग, हेजा आदि रोग, 'चौर' चोर, 'ईति' अतिवृष्टि आदि सात ईतियों और 'श्वापदादिभ्य.' हिंसक प्राणी आदि से 'त्वम्' तू 'रक्ष रक्ष' बार बार रक्षा कर, 'सुशिवं' कल्याण 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'सदा' हमेशा 'शांतिं' शान्ति 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'इति' इस प्रकार 'तुष्टिं' परितोष 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'पुष्टिं' पोषण 'कुरु कुरु' बार बार कर 'च' और 'स्वस्ति' मंगल 'कुरु कुरु' बार बार कर ॥१२॥१३॥

भावार्थ—हे देवि ! तू पानी, आग, विष, और सर्प से बचा । शनि आदि दुष्ट ग्रहों के, दुष्ट राजाओं के, दुष्ट रोग के और युद्ध के भय से तू बचा । राक्षसों से, रिपुओं से, महामारी से, चोरों से, अतिवृष्टि आदि सात ईतियों से और हिंसक प्राणियों से बचा । हे देवि ! तू मंगल, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण यह सब सदा बार बार कर ॥१२॥१३॥

भगवति ! गुणवति ! शिवशान्ति,-
तुष्टिपुष्टिस्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम् ।
ओमिति नमो नमो ह्राँ,
ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ, फुट् फुट्[1] स्वाहा ॥१४॥

1—'फट् फट्' इत्यपि ।

अन्वयार्थ—'गुणवति!' हे गुणवाली 'भगवति!' भगवति! [तू] 'इह' इस जगत में 'जनानाम्' लोगों के 'शिवशान्तितुष्टिपुष्टि-स्वस्ति' कल्याण, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कुशल को 'कुरु कुरु' बार बार कर। 'ओमिति' ओम्-रूप तुझ को 'ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा' ह्राँ ह्रीँ इत्यादि मन्त्राक्षरों से 'नमोनमः' बार बार नमस्कार हो ॥१४॥

भावार्थ—गुणवाली हे भगवति! तू इस जगत में लोगों को सब तरह से सुखी कर। हे देवि! तू ओम्-स्वरूप—रक्षक-रूप या तेजोरूप है; इस लिये तुझ को ह्राँ ह्रीँ आदि दश[1] मन्त्रों द्वारा बार २ नमस्कार हो ॥१४॥

एवं यन्नामाक्षर,-पुरस्सरं सँस्तुता जयादेवी।
कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नमः शान्तये तस्मै ॥१५॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'यन्नामाक्षरपुरस्सरं' जिस के नामाक्षर-पूर्वक 'सँस्तुता' स्तवन की गई 'जयादेवी' जयादेवी 'नमता' नमन करने वालों को 'शान्तिं' शान्ति 'कुरुते' पहुँचाती है; 'तस्मै' उस 'शान्तये' शान्तिनाथ को 'नमो नमः' पुनः पुनः नमस्कार हो ॥१५॥

भावार्थ—जिस के नाम का जप कर के सँस्तुत अर्थात् आ-ह्वान की हुई जया देवी भक्तों को शान्ति पहुँचाती है, उस प्रभावशाली शान्तिनाथ भगवान् को बार २ नमस्कार हो ॥१५॥

१—ऊपर के अक्षरों में पहले सात अक्षर शान्तिमन्त्र के बीज हैं और शेष तीन विघ्न-विनाशकारी मन्त्र हैं।

इतिपूर्वसूरिदर्शित,-मन्त्रपदविदर्भितः स्तवः शान्तेः ।
सलिलादिभयविनाशी, शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—'इति' इस प्रकार 'पूर्वसूरिदर्शित' पूर्वाचार्यों के बतलाये हुए 'मन्त्रपदविदर्भितः' मन्त्र-पदों से रचा हुआ 'शान्तेः' श्रीशान्तिनाथ का 'स्तवः' स्तोत्र 'भक्तिमताम्' भक्तों के 'सलिलादिभयविनाशी' पानी आदि के भय का विनाश करने वाला 'च' और 'शान्त्यादिकरः' शान्ति आदि करने वाला है ॥१६॥

भावार्थ—पूर्वाचार्यों के कहे हुए मन्त्र-पदों को ले कर यह स्तोत्र रचा गया है । इस लिये यह भक्तों के सब प्रकार के भयों को मिटाता है और सुख, शान्ति आदि करता है ॥१६॥

यश्चैनं पठति सदा, शृणोति भावयति वा यथायोगम् ।
स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ॥१७॥

अन्वयार्थ—'यः' जो [भक्त] 'एनं' इस स्तोत्र को 'सदा' हमेशा 'यथायोगम्' विधि-पूर्वक 'पठति' पढ़ता है, 'शृणोति' सुनता है 'वा' अथवा 'भावयति' मनन करता है 'सः' वह 'च' और 'सूरिः श्रीमानदेवः' श्रीमानदेव सूरि 'शान्तिपदं' मुक्ति-पद को 'हि' अवश्य 'यायात्' प्राप्त करता है ॥१७॥

भावार्थ—जो भक्त इस स्तोत्र को नित्यप्रति विधि-पूर्वक पढ़ेगा, सुनेगा और मनन करेगा, वह अवश्य शान्ति प्राप्त करेगा। तथा इस स्तोत्र के रचने वाले श्रीमानदेव सूरि भी शान्ति पायँगे ॥१७॥

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥१८॥

अन्वयार्थ—'जिनेश्वरे' जिनेश्वर को 'पूज्यमाने' पूजने पर 'उपसर्गा.' उपद्रव 'क्षय' विनाश को 'यान्ति' प्राप्त होते हैं, 'विघ्नवल्लय.' विघ्नरूप लताएँ 'छिद्यन्ते' छिन्न-भिन्न हो जाती है और 'मन' चित्त 'प्रसन्नताम्' प्रसन्नता को 'एति' प्राप्त होता है ॥१८॥

भावार्थ—जिनेश्वर का पूजन करने से सब उपद्रव नष्ट हो जाते है, विघ्न-बाधाएँ निर्मूल हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१८॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥१९॥

अर्थ—पूर्ववत् ।

४५—चउक्कसाय सूत्र ।

* चउक्कसायपडिमल्लुल्लूरणु, दुज्जयमयणबाणमुसुमूरणू ।
सरसपिअंगुवण्णु गयगामिउ, जयउ पासु भुवणत्तयसामिउ १

अन्वयार्थ—'चउक्कसाय' चार कषायरूप 'पडिमल्ल' वैरी के 'उल्लूरणु' नाश-कर्ता, 'दुज्जय' कठिनाई से जीते जाने वाले,

* चतुष्कषायप्रतिमल्लतोडनो, दुर्जयमदनबाणभञ्जन ।
सरसप्रियङ्गुवर्णो गजगामी, जयतु पार्श्वो भुवनत्रयस्वामी ॥१॥

'मयणबाण' काम-बाणों को 'मुसुमूरणु' तोड़ देने वाले, 'सरसपिअंगुवण्णु' नवीन प्रियङ्गु वृक्ष के समान वर्ण वाले, 'गयगामिउ' हाथी की सी चाल वाले और 'भुवणत्तयसामिउ' तीनों भुवन के स्वामी 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जयउ' जयवान् हो ॥१॥

भावार्थ—तीन भुवन के स्वामी श्रीपार्श्वनाथ स्वामी की जय हो। वे कषायरूप वैरिओं का नाश करने वाले हैं; काम के दुर्जय बाणों को खण्डित करने वाले हैं—जितेन्द्रिय है; नये प्रियङ्गु वृक्ष के समान नील वर्ण वाले हैं और हाथी-की-सी गम्भीर गति वाले हैं ॥१॥

† जसु तणुकंतिकडप्प सिणिद्धउ,
सोहइ फणिमणिकिरणालिद्धउ ।
नं नवजलहरतडिल्लयलंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ॥२॥

अन्वयार्थ—'जसु' जिस के 'तणुकंतिकडप्प' शरीर का कान्ति-मण्डल 'सिणिद्धउ' स्निग्ध और 'फणिमणिकिरणालिद्धउ' साँप की मणियों की किरणों से व्याप्त है, [इस लिये ऐसा] 'सोहइ' शोभमान् हो रहा है कि 'नं' मानो 'तडिल्लयलंछिउ' बिजली की चमक-सहित 'नवजलहर' नया मेघ हो; 'सो' वह 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जिणु' जिनेश्वर 'वंछिउ' वाञ्छित 'पयच्छउ' देवे ॥२॥

† यस्य तनुकान्तिकलापः स्निग्धः, शोभते फणिमणिकिरणाश्लिष्टः ।
ननु नवजलधरस्तडिल्लतालाञ्छितः, स जिनः पार्श्वः प्रयच्छतु वाञ्छितम् ॥२॥

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ सब कामनाओं को पूर्ण करें। उन के शरीर का कान्ति-मण्डल चिकना तथा सर्प के मणियों की किरणों से व्याप्त होने के कारण ऐसा मालूम हो रहा है कि मानों बिजली की चमक से शोभित नया मेघ हो अर्थात् भगवान् का शरीर नवीन मेघ की तरह नील वर्ण और चिकना है तथा शरीर पर फैली हुई सर्प-मणि की किरणें बिजली की किरणों के समान चमक रही हैं ॥२॥

——:o:——

४६—भरहेसर की सज्झाय।

† भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ॥१॥
मेअज्ज थूलिभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सिंहगिरी।
कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंडू ॥२॥
हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल महासाल सालिभद्दो अ।
भद्दो दसण्णभद्दो, पसण्णचंदो अ जसभद्दो ॥३॥

---

† भरतेश्वरो बाहुबली, अभयकुमारश्च ढण्ढणकुमारः।
श्रीयकोऽर्णिकापुत्रोऽतिमुक्तो नागदत्तश्च ॥१॥
मेतार्यः स्थूलभद्रो, वज्रर्षिर्नन्दिषेणः सिंहगिरिः।
कृतपुण्यश्च सुकोशलः, पुण्डरीकः केशी करकण्डूः ॥२॥
हल्लो विहल्लः सुदर्शनः, शालो महाशालः शालिभद्रश्च।
भद्रो दशार्णभद्रः, प्रसन्नचन्द्रश्च यशोभद्रः ॥३॥

‡ जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ वाहुमुणी ॥४॥
अज्जगिरि अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी उदायगो मणगो।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मूलदेवो अ ॥५॥
पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ ।
सिज्जंस कूरगडू अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ॥६॥
एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुणगणेहिं संजुत्ता ।
जेसिं नामग्गहणे, पावपबंधा विलय जंति ॥७॥

अर्थ—भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, अभयकुमार, ढण्ढणकुमार, श्रीयक, अन्निकापुत्र-आचार्य, अतिमुक्तकुमार, नागदत्त ॥१॥

मेतार्य मुनि, स्थूलिभद्र, वज्र-ऋषि, नन्दिषेण, सिंहगिरि, कृतपुण्यकुमार, सुकोशल मुनि, पुण्डरीक स्वामी, केशीअनगार, करकण्डू मुनि ॥२॥

हल्ल, विहल्ल, सुदर्शन श्रेष्ठी, शाल मुनि, महाशाल-मुनि,

---

‡ जम्बूप्रभुर्वङ्कचूलो, गजसुकुमालोऽवन्तिसुकुमालः ।
धन्य इलाचीपुत्रश्चिलातीपुत्रश्च बाहुमुनिः ॥४॥
आर्यगिरिरार्यरक्षित, आर्यसुहस्त्युदायनो मनकः ।
कालिकसूरिः शाम्बः, प्रद्युम्नो मूलदेवश्च ॥५॥
प्रभवो विष्णुकुमार, आर्द्रकुमारो दृढप्रहारी च ।
श्रेयांसः कूरगडुश्च, शय्यंभवो मेघकुमारश्च ॥६॥
एवमादयो महासत्त्वा, ददतु सुखं गुणगणैः संयुक्ताः ।
येषां नामग्रहणे, पापप्रबन्धा विलयं यान्ति ॥७॥

शालिभद्र, भद्रबाहु स्वामी, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र, यशोभद्र सूरि ॥३॥

जम्बूस्वामी, वङ्कचूल राजकुमार, गजसुकुमाल, अवन्तिसुकुमाल, धन्ना श्रेष्ठी, इलाचीपुत्र, चिलातीपुत्र, युगबाहु मुनि ॥४॥

आर्यमहागिरि, आर्यरक्षित सूरि, आर्यसुहस्ति सूरि, उदायन नरेश, मनकपुत्र, कालिकाचार्य, शाम्बकुमार, प्रद्युम्नकुमार, मूलदेव ॥५॥

प्रभवस्वामी, विष्णुकुमार, आर्द्रकुमार, दृढप्रहारी, श्रेयासकुमार, कूरगडु साधु, शय्यंभव स्वामी और मेघकुमार ॥६॥

इत्यादि महापराक्रमी पुरुष, जो अनेक गुणों से युक्त हो गये है और जिन का नाम लेने से ही पाप-बन्धन टूट जाते है; वे हमें सुख देवें ॥७॥

* सुलसा चंदनबाला, मणोरमा मयणरेहा दमयंती।
नमयासुंदरी सीया, नंदा भद्दा सुभद्दा य ॥८॥
रायमई रिसिदत्ता, पउमावइ अंजणा सिरीदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ॥९॥
बंभी सुंदरि रुप्पिणि, रेवइ कुंती शिवा जयंती अ ।

---

* सुलसा चन्दनबाला, मनोरमा मदनरेखा दमयन्ती ।
नर्मदासुन्दरी सीता, नन्दा भद्रा सुभद्रा च ॥८॥
राजीमती ऋषिदत्ता, पद्मावत्यञ्जना श्रीदेवी ।
ज्येष्ठा सुज्येष्ठा मृगावती, प्रभावती चेलणादेवी ॥९॥
ब्राह्मी सुन्दरी रुक्मिणी, रेवती कुन्ती शिवा जयन्ती च ।

* देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला अ ॥१०॥
पउमावई य गोरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य ।
जंबूवई सच्चभामा, रुप्पिणि कण्हट्ठ महिसीओ ॥११॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भयणीओ थूलिभद्दस्स ॥१२॥
इच्चाइ महासइओ, जयंति अकलंकसीलकलिआओ ।
अज्जवि वज्जइ जासिं, जसपडहो तिहुअणे सयले ॥१३॥

अर्थ—सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखा, दमयन्ती नर्मदासुन्दरी, सीता, नन्दा, भद्रा, सुभद्रा ॥८॥

राजीमती, ऋषिदत्ता, पद्मावती, अञ्जनासुन्दरी, श्रीदेवी, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, मृगावती, प्रभावती, चेलणारानी ॥९॥

ब्राह्मी, सुन्दरी, रुक्मिणी, रेवती, कुन्ती, शिवा, जयन्ती, देवकी, द्रौपदी, धारणी, कलावती, पुष्पचूला ॥१०॥

(१) पद्मावती, (२) गौरी, (३) गान्धारी, (४) लक्ष्मणा, (५) सुषीमा, (६) जम्बूवती, (७) सत्यभामा और (८) रुक्मिणी, ये कृष्ण की आठ पट्टरानियाँ ॥११॥

---

* देवकी द्रौपदी धारणी, कलावती पुष्पचूला च ॥१०॥
पद्मावती च गौरी, गान्धारी लक्ष्मणा सुषीमा च ।
जम्बूवती सत्यभामा, रुक्मिणी कृष्णस्याष्ट महिष्यः ॥११॥
यक्षा च यक्षदत्ता, भूता तथा चैव भूतदत्ता च ।
सेणा वेणा रेणा, भगिन्यः स्थूलभद्रस्य ॥१२॥
इत्यादयो महासत्यो, जयन्त्यकलङ्कशीलकलिताः ।
अद्यापि वाद्यते यासां, यशःपटहस्त्रिभुवने सकले ॥१३॥

(१) यक्षा, (२) यक्षदत्ता, (३) भूता, (४) भूतदत्ता, (५) सेणा, (६) वेणा और (७) रेणा, ये श्रीस्थूलभद्र मुनि की सात बहनें ॥१२॥

इत्यादि अनेक महासतियाँ पवित्र शील धारण करने वाली हो गई हैं। इन की जय आज भी वर्त रही है और कीर्ति-दुन्दुभि सकल लोक में बज रही है ॥१३॥

उक्त भरतादि का संक्षिप्त परिचय[1]।

सत्पुरुष।

१. भरत—प्रथम चक्रवर्ती और श्रीऋषभदेव का पुत्र। इस ने आरिसा (दर्पण) भवन में अँगुली में से अँगूठी गिर जाने पर अनित्यता की भावना भाते २ केवलज्ञान प्राप्त किया।

आव० नि० गा० ४३६, पृ०१६६।

२. बाहुबली—भरत का छोटा भाई। इस ने भरत को युद्ध में हराया और अन्त में दीक्षा ले कर मान-वश एक साल तक काउस्सग्ग में रहने के बाद अपनी बहिन ब्राह्मी तथा सुन्दरी के द्वारा प्रतिबोध पा कर केवलज्ञान पाया।

आव० नि० ३४६, भाष्य गा० ३२-३५, पृ० १५३।

१—इस परिचय में जितनी व्यक्तियाँ निर्दिष्ट हैं, उन सब के विस्तृत जीवन-वृत्तान्त 'भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति' नामक ग्रन्थ में हैं। परन्तु आगमादि प्राचीन ग्रन्थों में जिस २ का जीवन-वृत्त हमारे देखने में आया है, उस २ के परिचय के साथ उस २ ग्रन्थ का नाम, गाथा, पेज आदि यथासंभव लिख दिया गया है।

३. अभयकुमार—श्रेणिक का पुत्र तथा मन्त्री। इस ने पिता के अनेक कार्यों में भारी सहायता पहुँचाई। यह अपनी बुद्धि के लिये प्रसिद्ध है।

४. ढणढणकुमार—कृष्ण वासुदेव की ढणढणा रानी का पुत्र। इस ने अपने प्रभाव से आहार लेने का अभिग्रह (नियम) लिया था परन्तु किसी समय पिता की महिमा से आहार पाया मालूम करके उसे परठवते समय केवलज्ञान प्राप्त किया।

५. श्रीयक—स्थूलभद्र का छोटा भाई और नन्द का मन्त्री। यह उपवास में काल-धर्म करके स्वर्ग में गया।

आव० नि० गा० १२८४, तथा पृ० ६६३-६४।

६. अन्निकापुत्र—इस ने पुष्पचूला साध्वी को केवलज्ञान पाकर भी वैयावृत्य करते जान कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया। तथा किसी समय गङ्गा नदी में नौका में से लोगों के द्वारा गिराये जाने पर भी क्षमा-भाव रख कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इसी निमित्त से 'प्रयाग-तीर्थ' की उत्पत्ति हुई कही जाती है।

आ० नि० गा० ११८३ तथा पृ० ६८८/१-६८९/१।

७. अतिमुक्त मुनि—इस ने आठ वर्ष की छोटी उम्र में दीक्षा ली और बाल-स्वभाव के कारण तालाव में पात्री तैराई। फिर 'इरियावहियं' करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

अन्तकृत् वर्ग ६-अध्य० १५।

८. नागदत्त—दो हुए। इन में से एक अदत्तादानव्रत में अतिदृढ तथा काउसग्ग-बल में प्रसिद्ध था और इसी से इस ने राजा के द्वारा शूली पर चढ़ाये जाने पर शूली को सिंहासन के रूप में बदल दिया।

दूसरा नागदत्त—श्रेष्ठि-पुत्र हो कर भी सर्प-क्रीडा में कुशल था। इस को पूर्व जन्म के मित्र एक देव ने प्रतिबोधा, तब इस ने जातिस्मरणज्ञान पा कर संयम धारण किया।

९. मेतार्य—यह एक चाण्डालिनी का लड़का था, लेकिन किसी सेठ के घर पला था। यह परम दयाशील था, यहाँ तक कि किसी सुनार के द्वारा सिर बाँधे जाने से दोनों आँखें निकल आने पर भी प्राणों की परवा न करके सौने के जौ चुग जाने वाले क्रौञ्च पक्षी को सुनार के हाथ से इस ने बचाया, और केवल ज्ञान प्राप्त किया।

—आव० नि० गा० ८६७-८७० पृ० ३६७-६६।

१०. स्थूलभद्र—नन्द के मन्त्री शकटाल के पुत्र और आचार्य संभूतिविजय के शिष्य। इन्हो ने एक बार पूर्व-परिचित कोशा नामक गणिका के घर चौमासा किया। वहाँ उस ने इन्हें बहुत प्रलोभन दिया। किन्तु ये उस के प्रलोभन में न आये, उलटा इन्होंने अपने ब्रह्मचर्य की दृढ़ता से इस को परम श्राविका बनाया।

आव० नि० गा० १२८४ तथा पृ० ६९५/१- ६९८/१।

११. वज्रस्वामी—अन्तिम दश-पूर्व धर, आकाशगामिनी विद्या तथा वैक्रिय लब्धि के धारक। इन्हो ने बाल्य-काल में ही जाति-स्मरणज्ञान प्राप्त किया और दीक्षा ली। तथा पदानुसारिणी लब्धि से ग्यारह अङ्ग को याद किया।

आव० नि० गा० ७६३-७६६, पृ० २८५/२-३९४/२।

१२. नन्दिषेण—दो हुए। इन में से एक तो श्रेणिक का पुत्र। जो लब्धिधारी और परमतपस्वी था। यह एक बार संयम से भ्रष्ट हो कर वेश्या के घर रहा, किन्तु वहाँ रह कर भी ज्ञान-बल से प्रतिदिन दस व्यक्तियों को धर्म प्राप्त कराता रहा और अन्त में इस ने फिर से संयम धारण किया।

दूसरा नन्दिषेण—यह वैयावृत्य करने में अतिदृढ था। किसी समय इन्द्र ने इस को उस दृढता से चलित करना चाहा, पर

यह एक घिनावनी बीमारी वाले साधु की सेवा करने में इतना दृढ़ रहा कि अन्त में इन्द्र को हार माननी पड़ी।

१३. सिंहगिरि—वज्रस्वामी के गुरु।—आव० पृ० २८३/१।

१४. कृतपुण्यक—श्रेष्ठि-पुत्र। इस ने पूर्व भव में साधुओं को शुद्ध दान दिया। इस भव में विविध सुख पाये और अन्त में दीक्षा ली।—आव० नि० गा० ८४६ तथा पृ० ३४३/२।

१५. सुकोशल—यह अपनी मा, जो मर कर वाघिनी हुई थी, उस के द्वारा चीरे जाने पर भी काउस्सग्ग से चलित न हुआ और अन्त में केवलज्ञानी हुआ।

१६. पुण्डरीक—यह इतना उदार था कि जब संयम से भ्रष्ट हो कर राज्य पाने की इच्छा से अपना भाई कण्डरीक घर वापिस आया तब उस को राज्य सौंप कर इस ने स्वयं दीक्षा ले ली।
—ज्ञाताधर्म० अध्ययन १९।

१७. केशी—ये श्रीपार्श्वनाथस्वामी की परम्परा के साधु थे। इन्हों ने प्रदेशी राजा को धर्म-प्रतिबोध दिया था और गौतमस्वामी के साथ बड़ी धर्म-चर्चा की थी।—उत्तराध्ययन अध्ययन २३।

१८. करकण्डू—चम्पा-नरेश दधिवाहन की पत्नी और चेडा महाराज की पुत्री पद्मावती का साध्वी अवस्था में पैदा हुआ पुत्र, जो चाण्डाल के घर बड़ा हुआ और पीछे मरे हुए साँड़ को देख कर बोध तथा जातिस्मरणज्ञान होने से प्रथम प्रत्येक-बुद्ध हुआ।
—उत्तराध्य० अध्य० १, भावविजय-कृत टीका पृ० २०२ तथा आव० भाष्य गा० २०५, पृ० ७१६।

१९-२०. हल्ल-विहल्ल—श्रेणिक की रानी चेलणा के पुत्र। ये अपने नाना चेडा महाराज की मदद ले कर भाई कोणिक के साथ सेचनक नामक हाथी के लिये लड़े और हाथी के मर जाने पर वैराग्य पा कर इन्हों ने दीक्षा ली।—आव० पृ० ६७९/१।

२१. सुदर्शन श्रेष्ठी—यह परस्त्रीत्यागव्रत में अतिदृढ था। यहाँ तक कि इस व्रत के प्रभाव से उस के लिये शूली भी सिंहासन हो गई।

२२-२३. शाल-महाशाल – इन दोनों भाइयों में परस्पर बड़ी प्रीति थी। इन्हों ने अपने भानजे गागली को राज्य सौंप कर दीक्षा ली। फिर गागली को और गागली के माता-पिता को भी दीक्षा दिलाई।—आव० पृ० २८६।

२४ शालिभद्र—इस ने सुपात्र में दान देने के प्रभाव से अतुल सम्पत्ति पाई। और अन्त में उसे छोड़ कर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली।

२५. भद्रबाहु—चरम चतुर्दश-पूर्व-धर और श्रीस्थूलभद्र के गुरु। ये निर्युक्तियों के कर्ता कहे जाते हैं।

२६. दशार्णभद्र—दशार्णपुर नगर का नरेश। इस ने इन्द्र की समृद्धि को देख अपनी सम्पत्ति का गर्व छोड़ कर दीक्षा ली।
—आव० नि० गा० ८४६ तथा पृ० ३४१।

२७ प्रसन्नचन्द्र—एक राजर्षि। इस ने क्षणमात्र में दुर्ध्यान से सातवें नरक-योग्य कर्म-दल को इकट्ठा किया और फिर क्षणमात्र में ही उस को शुभ ध्यान से खपा कर मोक्ष पाया।
—आव० नि० गा० ११५०, पृ० ५२६।

२८. यशोभद्र सूरि—श्रीशय्यंभव सूरि के शिष्य और श्रीभद्रबाहु तथा वराहमिहिर के गुरु।

२९. जम्बूस्वामी—अखण्डित बाल-ब्रह्मचारी, अतुल-वैभव-त्यागी और भरत क्षेत्र में इस युग के चरम केवली। इन को संबोधित करके सुधर्मास्वामी ने आगम गूँथे हैं।

३०. वङ्कचूल—राजपुत्र । इस ने लूट-खसोट का काम करते हुए भी लिये हुए नियमों—अज्ञातफल तथा कौएका मांस न खाना इत्यादि व्रतों—का दृढता-पूर्वक पालन किया ।

३१. गजसुकुमाल—कृष्ण-वासुदेव का परम-क्षमा-शील छोटा भाई । यह अपने ससुर सोमिल के द्वारा सिर पर जलते हुए अङ्गारे रक्खे जाने पर भी काउस्सग्ग ध्यान में स्थिर रहा और अन्त में अन्तकृत्केवली हुआ । —अन्तकृत् वर्ग ३, अध्ययन ९ ।

३२. अवन्तीसुकुमाल—श्रेष्ठि-भार्या सुभद्रा का पुत्र । इस ने 'नलिनीगुल्म-अध्ययन' सुन कर जातिस्मरण पाया; बत्तीस स्त्रियों को छोड़ कर सुहस्ति सूरि के पास दीक्षा ली और शृगालों के द्वारा सारा शरीर नोंच लिये जाने पर भी काउस्सग्ग खण्डित नहीं किया । —आव० पृ० ६७०/१ ।

३३ धन्यकुमार—शालिभद्र का बहनोई । इस ने एक साथ आठों स्त्रियों का त्याग किया ।

३४. इलाचीपुत्र—इस ने श्रेष्ठि-पुत्र हो कर भी नटिनी के मोह से नट का पेशा सीखा और अन्त में नाच करते २ केवलज्ञान प्राप्त किया । —आव० पृ० ३५१/२ ।

३५. चिलातीपुत्र—यह एक तपस्वी मुनि से 'उपशम, विवेक और संवर' ये तीन पद सुन कर उन की अर्थ-विचारणा में ऐसा तल्लीन हुआ कि चींटियों के द्वारा पूर्णतया सताये जाने पर भी शुभ ध्यान से चलित न हुआ और ढाई दिन-रात में स्वर्ग को प्राप्त हुआ । इस ने पहिले चौरपल्ली का नायक बन, कर सुमसुमा नामक एक कन्या का हरण किया था और उस का सिर तक काट डाला था ।
—आव० नि० गा० ८७२-८७५, पृ० ३७०/२-३८२/१ तथा ज्ञाता० अध्य० १८ ।

३६. युगबाहु मुनि—इन्हों ने पूर्व तथा वर्तमान जन्म में ज्ञान-पञ्चमी का आराधन कर के सिद्धि पाई ।

३७. आर्यमहागिरि—श्रीस्थूलभद्र के शिष्य। ये जिनकल्पी थे नहीं, तो भी जिनकल्प का आचार पालन करते थे।
—आव० नि० गा० १२८३, पृ० ६६८।

३८. आर्यरक्षित—तोसलिपुत्र सूरि के शिष्य। इन्हों ने श्रीवज्रस्वामी से नौ पूर्व पूर्ण पढ़े और आगमों को चार अनुयोगों में विभाजित किया। —आव० नि० गा० ७७५, पृ० $\frac{२९८}{१}$।

३९. आर्यसुहस्ति—श्रीस्थूलभद्र के शिष्य।
—आव० नि० गा० १२८३।

४०. उदायन—वीतभय नगर का नरेश। इस ने अपने भानजे केशी को राज्य दे कर दीक्षा ली और केशी के मन्त्रियों द्वारा अनेक वार विष-मिश्रित दही दिये जाने पर भी देव-सहायता से बच कर अन्त में उसी विष-मिश्रित दही से प्राण त्यागे।
—आव० नि० गा० १२८४।

४१. मनकपुत्र—श्रीशय्यंभव सूरि का पुत्र तथा शिष्य। इस के लिये श्रीशय्यंभव सूरि ने दशवैकालिक सूत्र का उद्धार किया। —दशवै० नि० गा० १४।

४२. कालिकाचार्य—ये तीन हुए। एक ने अपने हठी भानजे दत्त को सच २ बात कह कर उस की भूल दिखाई। दूसरे ने भादों शुक्ला चतुर्थी के दिन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने की प्रथा शुरू की। तीसरे ने गर्दभिल्ल राजा को सख्त सजा दे कर उस के हाथ से परम-साध्वी अपनी बहिन को छुड़ाया और प्रायश्चित्त ग्रहण कर संयम का आराधन किया।

४३-४४. शाम्ब, प्रद्युम्न--इन में से पहिला श्रीकृष्ण की स्त्री जम्बूवती का धर्मप्रिय पुत्र और दूसरा रुक्मिणी का परम सुन्दर पुत्र। —अन्तकृत् वर्ग ४, अध्य० ६–७, पृ० $\frac{३}{१}$।

४५. मूलदेव—एक राजपुत्र। यह पूर्वावस्था में तो बड़ा व्यसनी तथा नटखटी था, पर पीछे से सत्सङ्ग मिलने पर इस ने अपने चारित्र को सुधारा।

४६. प्रभवस्वामी—श्रीशय्यंभव सूरि के चतुर्दश पूर्व धारी गुरु। इन्हों ने चोरी का धन्धा छोड कर जम्बूस्वामी के पास दीक्षा ली थी।

४७ विष्णुकुमार—इस ने तपोबल से एक अपूर्व लब्धि प्राप्त कर उस के द्वारा एक लाख योजन का शरीर बना कर नमूची राजा का अभिमान तोड़ा।

४८ आर्द्रकुमार—राजपुत्र। इस को अभयकुमार की भेजी हुई एक जिन प्रतिमा को देखने से जातिस्मरण ज्ञान हुआ। इस ने एक बार दीक्षा ले कर छोड़ दी और फिर दुबारा ली और गोशालक आदि से धर्म-चर्चा की।—सूत्रकृताङ्ग श्रुत० २ अध्य० ६।

४६. दृढप्रहारी—एक प्रसिद्ध चोर, जिस ने पहले तो किसी ब्राह्मण और उस की स्त्री आदि की घोर हत्या की लेकिन पीछे उस ब्राह्मणी के तड़फते हुए गर्भ को देख कर वैराग्यपूर्वक संयम लिया और घोर तप कर के केवलज्ञान प्राप्त किया।

—आव० नि० गा० ६५२, पृ० ४३८/१।

५० श्रेयांस—श्रीबाहुबली का नाती। इस ने श्रीआदिनाथ को वार्षिक उपवास के बाद इक्षु-रस से पारणा कराया।

—आव० नि० गा० ३२९, पृ० १४५/१-१४८/२।

५१ कूरगडु मुनि—ये परम क्षमा धारी थे। यहाँ तक कि एक बार कफ के बीमार किसी साधु का थूक इन के आहार में पड़ गया पर इन्हो ने उस पर गुस्सा नहीं किया, उलटी उस की प्रशंसा और अपनी लघुता दिखलाई और अन्त में केवलज्ञान प्राप्त किया।

५२ शय्यंभव—प्रभवस्वामी के चतुर्दश-पूर्व-धारी पट्टधर शिष्य। ये जाति के ब्राह्मण और प्रकृति के सरल थे।
—दशवै० नि० गा० १४।

५३. मेघकुमार श्रेणिक की रानी धारिणी का पुत्र; जिस ने कि हाथी के भव में एक खरगोश पर परम दया की थी। यह एक बार नव दीक्षित अवस्था में सब से पीछे संथारा करने के कारण और बड़े साधुओं के आने-जाने आदि से उड़ती हुई रज के कारण संयम से ऊब गया लेकिन फिर इस ने भगवान् वीर के प्रतिबोध से स्थिर हो कर अनशन करके चारित्र की आराधना की। ज्ञाता अध्य० १।

सती-स्त्रियाँ।

१. सुलसा—भगवान् वीर की परम-श्राविका। इस ने अपने बत्तीस पुत्र एक साथ मर जाने पर भी आर्तध्यान नहीं किया और अपने पति नागसारथि को भी आर्तध्यान करने से रोक कर धर्म-प्रतिबोध दिया। —आव० पृ० ६७८।

२. चन्दनबाला—भगवान् वीर का दुष्कर अभिग्रह पूर्ण करने वाली एक राजकन्या और उन की सब साध्वियों में प्रधान-साध्वी। —आव० नि० गा० ५२०-५२१।

३. मनोरमा—सुदर्शन सेठ की पतिव्रता स्त्री।

४. मदनरेखा—इस ने अपने पति युगबाहु के बड़े भाई मणिरथ के द्वारा अनेक लालच दिये जाने और अनेक संकट पड़ने पर भी पतिव्रता-धर्म अखण्डित रक्खा।

५. दमयन्ती—राजा नल की पत्नी और विदर्भ-नरेश भीम की पुत्री।

६. नर्मदासुन्दरी—महेश्वरदत्त की स्त्री और सहदेव की पुत्री। इस ने आर्यसुहस्ति सूरि के पास संयम ग्रहण किया और योग्यता प्राप्त कर प्रवर्तिनी-पद पाया।

७. सीता—श्रीरामचन्द्र की धर्म-पत्नी और जनक विदेह की पुत्री ।

८. नन्दा—अभयकुमार की माता । —अन्त० वर्ग ७, अध्य० १ ।

६. भद्रा—शालिभद्र की धर्म-परायण माता ।

१०. सुभद्रा—इस ने अपने ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से चलनी द्वारा कुए में से पानी निकाल कर लोगों को चकित किया ।

—दशवैकालिक नि० गा० ७३-७४।

११. राजीमती—भगवान् नेमिनाथ की बाल-ब्रह्मचारिणी मुख्य-साध्वी । इस ने अपने जेठ रथनेमि को चारित्र में स्थिर किया । —दशवै० अध्य० २, वृत्ति पृ० ९६ ।

१२. ऋषिदत्ता—कनकरथ नरेश की पतिव्रता स्त्री और हरिषेण तापस की पुत्री ।

१३. पद्मावती—दधिवाहन की स्त्री, चेडा महाराज की पुत्री और प्रत्येक-बुद्ध करकण्डु की माता ।—आव० पृ० ७१६-७१७ ।

१४. अञ्जनासुन्दरी—पवनञ्जय की स्त्री और हनुमान की माता ।

१५. श्रीदेवी—श्रीधर नरेश की पतिव्रता स्त्री ।

१६. ज्येष्ठा—त्रिशला-पुत्र नन्दिवर्धन की निश्चल-व्रत-धारिणी पत्नी और चेडा राजा की पुत्री । —आव० पृ० ६७६ ।

१७. सुज्येष्ठा—चेलणा की वहिन और बाल-ब्रह्मचारिणी परम-तपस्विनी साध्वी । —आव० पृ० ६७६-६७७ ।

१८. मृगावती—चन्दनवाला की शिष्या । इस ने आलोचना करते करते केवलज्ञान प्राप्त किया ।

—आव०नि० गा० १०४८, पृ० ४८४। दश० नि० गा० ७६, पृ०४६।

१६. प्रभावती—उदायन राजर्षि की पट्टरानी और चेडा नरेश की पुत्री। —आव० पृ० ६७६।

२० चेलणा—श्रेणिक की पट्टरानी, चेडा महाराज की पुत्री और भगवान् महावीर की परम-श्राविका।

—आव० पृ०६५ तथा ६७४-६७७।

२१. ब्राह्मी—भरत चक्रवर्ती की वहिन।

—आव० नि० गा० १९६ तथा पृ० $\frac{१५३}{१}$।

२२. सुन्दरी—बाहुवली की सहोदर वहिन। इस ने ६०००० वर्ष तक आयंबिल की कठोर तपस्या की थी।

—आव० नि० पृ० $\frac{१५३}{१}$।

२३ रुक्मिणी—यह एक सती स्त्री हुई, जो कृष्ण की स्त्री रुक्मिणी से भिन्न है।

२४. रेवती—भगवान् वीर की परम-श्राविका। इस ने भगवान् को भाव-पूर्वक कोला-पाक का दान दिया था। यह आगामी चौवीसी में सत्रहवाँ तीर्थंकर होगी। —भगवती शतक १५।

२५. कुन्ती—पाण्डवों की माता।—ज्ञाता अध्ययन १६।

२६. शिवा—चण्डप्रद्योतन नरेश की धर्म-पत्नी और चेडा महाराज की पुत्री। —आव० पृ० ६७६।

२७. जयन्ती—उदायन राजर्षि की बुआ (फूफी) और भगवान् वीर की विदुषी श्राविका। इस ने भगवान् से अनेक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न किये थे। —भगवती शतक १२, उद्देश २।

२८. देवकी—वसुदेव की पत्नी और श्रीकृष्ण की माता।

२९. द्रौपदी—पाण्डवों की स्त्री। —ज्ञाता अध्ययन, १६।

३०. धारिणी—चन्दनबाला की माता।—आव० पृ० २२१।

३१. कलावती—राजा शङ्ख की पतिव्रता पत्नी। इस के दोनों हाथ काटे गये पर पीछे देव सहायता से अच्छे हो गये थे।

३२. पुष्पचूला—अग्निकापुत्र-आचार्य की शाय-शिष्या, जिस ने केवलज्ञान पा कर भी उन की सेवा की थी।

—आव० पृ० ६८८।

३३-४०. पद्मावती आदि आठ—श्रीकृष्ण वासुदेव की पतिव्रता स्त्रियाँ। —अन्तगृत् वर्ग-५।

४१-४७ यक्षा आदि सात-तीव्र स्मरण-शक्ति वाली श्रीस्थूलभद्र की बहिनें। —आव० पृ० ६९३।

४७—मन्नह जिणाणं सज्झाय।

*मन्नह जिणाणमाणं, मिच्छं परिहरह धरह सम्मत्तं।
छव्विह-आवस्सयम्मि, उज्जुत्तो[1] होइ पइदिवसं ॥१॥

अन्वयार्थः—'जिणाणम्' तीर्थङ्करों की 'आण' आज्ञा को 'मन्नह' मानो, 'मिच्छं' मिथ्यात्व को 'परिहरह' त्यागो, 'सम्मत्तं' सम्यक्त्व को 'धरह' धारण करो [तथा] 'पइदिवसं' हर दिन 'छव्विह-आवस्सयम्मि' छह प्रकार के आवश्यक में 'उज्जुत्तो' सावधान 'होइ' हो जाओ ॥१॥

---

* मन्यध्वं जिनानामाज्ञा, मिथ्यात्वं परिहरत धरत सम्यक्त्वम्।
षड्विधावश्यके, उद्युक्तो भवति प्रतिदिवसम् ॥१॥

१-'उज्जुत्ता होह' ऐसा पाठ हो तो विशेष संगत होगा।

* पव्वेसु पोसहवयं, दाणं सीलं तवो अ भावो अ ।
सज्झाय नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ॥२॥
जिणपूआ जिणथुणणं, गुरुथुअ साहम्मिआण वच्छल्लं ।
ववहारस्स य सुद्धी, रहजत्ता तित्थजत्ता य ॥३॥
उवसमविवेगसंवर, भासासमिई छजीवकरुणा य ।
धम्मिअजणसंसग्गो, करणदमो चरणपरिणामो ॥४॥
संघोवरि बहुमाणो, पुत्थयलिहणं पभावणा तित्थे ।
सड्ढाण किच्चमेअं, निच्चं सुगुरूवएसेणं ॥५॥

अन्वयार्थः—'पव्वेसु' पर्वों में 'पोसहवयं' पौषधव्रत, 'दाणं' दान, 'सीलं' शील-ब्रह्मचर्य, 'तवो' तप, 'भावो' भाव, 'सज्झाय' स्वाध्याय-पठन पाठन, 'नमुक्कारो' नमस्कार, 'परोवयारो' परोपकार, 'जयणा' यतना, 'जिणपूआ' जिन-पूजा, 'जिणथुणणं' जिन-स्तुति, 'गुरुथुअ' गुरु-स्तुति, 'साहम्मिआण वच्छल्लं' साधर्मिकों से वात्सल्य-प्रेम, 'ववहारस्स सुद्धी' व्यवहार की शुद्धि, 'रहजत्ता' रथ-यात्रा, 'तित्थजत्ता' तीर्थ-यात्रा, 'उवसम' उपशम-क्षमा

---

* पर्वसु पौषधव्रतं, दानं शीलं तपश्च भावश्च ।
स्वाध्यायो नमस्कारः, परोपकारश्च यतना च ॥२॥
जिनपूजा जिनस्तवनं, गुरुस्तवः साधर्मिकाणां वात्सल्यम् ।
व्यवहारस्य च शुद्धी, रथयात्रा तीर्थयात्रा च ॥३॥
उपशमविवेकसंवरा, भाषासमितिः षड्जीवकरुणा च ।
धार्मिकजनसंसर्गः, करणदमश्चरणपरिणामः ॥४॥
संघोपरिबहुमानः, पुस्तकलेखनं प्रभावना तीर्थे ।
श्राद्धानां कृत्यमेतद्, नित्यं सुगुरूपदेशेन ॥५॥

'विवेग' विवेक—सच-झूँठ की पहिचान, 'संवर' कर्म-बन्ध को रोकना, 'भासासमिई' भाषा-समिति, 'छजीवकरुणा' छह प्रकार के जीवों पर करुणा, 'धम्मिअजणसंसग्गो' धार्मिक जन का सङ्ग, 'करणदमो' इन्द्रियों का दमन, 'चरणपरिणामो' चारित्र का परिणाम, 'संघोवरि बहुमाणो' संघ के ऊपर बहुमान, 'पुत्थयलिहणं' पुस्तक लिखना-लिखाना, 'य' और 'पभावणा तित्थे' तीर्थ— शासन की प्रभावना, 'एअं' यह सब 'सड्ढाण' श्रावकों को 'निच्चं' रोज 'सुगुरूवएसेणं' सुगुरु के उपदेश से 'किच्चं' करना चाहिये ॥२—५॥

भावार्थ—तीर्थङ्कर की आज्ञा को मानना चाहिये; मिथ्यात्व को त्यागना चाहिये; सम्यक्त्व को धारण करना चाहिये और नित्यप्रति सामायिक आदि छह प्रकार का आवश्यक करने में उद्यम करना चाहिये ॥१॥

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पौषधव्रत लेना, सुपात्र-दान देना, ब्रह्मचर्य पालना, तप करना, शुद्ध भाव रखना, स्वाध्याय करना, नमस्कार मन्त्र जपना, परोपकार करना, यतना—उपयोग रखना, जिनेश्वर की स्तुति तथा पूजा करना, गुरु की स्तुति करना, समय पर मदद दे कर साधर्मिक भाइयों की भक्ति करना, सब तरह के व्यवहार को शुद्ध रखना, रथ-यात्रा निकालना, तीर्थ-यात्रा करना, उपशम, विवेक, तथा संवर धारण करना, बोलने में विवेक रखना, पृथिवीकाय आदि छहों प्रकार के जीवों पर दया रखना, धार्मिक मनुष्य का सङ्ग करना, इन्द्रियों

को जीतना, चारित्र लेने का भाव रखना, पुस्तकें लिखना लिखाना और शासन की सच्ची महत्ता प्रकट कर उसका प्रभाव फैलाना, ये सब श्रावक के कर्तव्य हैं। इस लिये इन्हें सद्गुरु के उपदेशानुसार जानना तथा करना चाहिये ॥२-५॥

४८—तीर्थ-वन्दना।

सकल तीर्थ वंदू कर जोड़, जिनवरनामे मंगल कोड़ ।
पहले स्वर्गे लाख बत्रीश, जिनवर चैत्य नमुं निशदिश ॥१॥
बीजे लाख अट्ठाविश कह्यां, त्रीजे बार लाख सद्दह्यां ।
चौथे स्वर्गे अड लख धार, पांचमे वंदु लाख ज चार ॥२॥
छठे स्वर्गे सहस पचास, सातमे चालिश सहस प्रासाद ।
आठमें स्वर्गे छः हजार, नव दशमे वंदु शत चार ॥३॥
अग्यार बारमें त्रणसें सार, नवग्रैवेके त्रणसें अढार ।
पांच अनुत्तर सर्वे मली, लाख चोराशी अधिकां वली ॥४॥
सहस सत्ताणु त्रेविस सार, जिनवर भवन तणों अधिकार ।
लांबां सो जोजन विस्तार, पचास उचां बोहोंतेर धार ॥५॥
एक सो एशी बिंबपरिमाण, सभासहित एक चैत्ये जाण ।
सो कोड बावन कोड संभाल, लाख चोराणु सहस चोंआल ।६।
सातसें उपर साठ विशाल, सवि बिंब प्रणमुं त्रण काल ।
सात कोडने बोहोंतर लाख, भवनपतिमां देवल भाख ॥७॥
एक सो एशी बिंब प्रमाण, एक एक चैत्ये संख्या जाण ।
तेरसें कोड नेव्याशी कोड, साठ लाख वंदुं कर जोड़ ॥८॥

बत्रीशेंने ओगणसाठ, तिर्छी लोकमां चैत्यनो पाठ ।
त्रण लाख एकाणु हजार, त्रणशें वीश ते बिंब जुहार ॥९॥
व्यन्तर ज्योतिषमां वली जेह, शाश्वता जिन वंदूं तेह ।
ऋषभ चन्द्रानन वारिषेण, वर्द्धमान नामे गुणसेण ॥२०॥
समेत शिखर वंदूं जिन वीश, अष्टापद वंदूं चोवीश ।
विमलाचलने गढ़ गिरनार, आबु उपर जिनवर जुहार ॥११॥
शङ्खेश्वर केसरियो सार, तारंगे श्रीअजित जुहार ।
अंतरिरा वरकारणो पास, जीरावलो ने थंभण पास ॥१२॥
गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर चैत्य नमुं गुणगेह ।
विहरमान वंदूं जिन वीश, सिद्ध अनंत नमुं निशादिश ॥१३॥
अढ़ीद्वीपमां जे अणगार, अढार सहस सिलांगना धार ।
पञ्च महाव्रत समिती सार, पाले पलावे पञ्चाचार ॥१४॥
बाह्य अभ्भिंतर तप उजमाल, ते मुनि वंदूं गुणमणिमाल ।
नित नित उठी कीर्ति करूं, 'जीव' कहे भवसायर तरूं ॥१५॥

सारांश—प्रतिक्रमण करने वाला हाथ जोड़ कर तीर्थ-वन्दना करता है । पहले वह शाश्वत बिम्बों को और पीछे वर्तमान कुछ तीर्थ, विहरमाण जिन और सिद्ध तथा साधु को नमन करता है ।

शाश्वत बिम्ब—ऊर्ध्व-लोक में—बारह देव-लोक, नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान में——८४९७०२३ जिन-भवन हैं । बारह देव-लोक तक में ८४९६७०० जिन-भवन हैं । प्रत्येक

देव-लोक के जिन भवन की संख्या मूल में स्पष्ट है। बारह देव-लोक के प्रत्येक जिन चैत्य में एक सौ अस्सी-एक सौ अस्सी जिन-बिम्ब है। नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान के ३२३ में से प्रत्येक जिन-चैत्य में एक सौ बीस एक सौ बीस जिन-बिम्ब है। ऊर्ध्व लोक के जिन बिम्ब सब मिला कर १५२९४४४७६० होते है। अधोलोक में भवन पति के निवास-स्थान में ७७२००००० जिन-मन्दिर हैं। प्रत्येक मन्दिर में एक सौ अस्सी-एक सौ अस्सी जिन प्रतिमायें हैं। सब मिला कर प्रतिमायें १३८९६००००००० लाख होती है। तिरछे लोक में—मनुष्य-लोक में ३२५९ शाश्वत जिन-मन्दिर हैं। इन में ६० चार २ द्वार वाले हैं और शेष ३१९९ तीन २ द्वार वाले हैं। चार द्वार वाले प्रत्येक मन्दिर में एक सौ चौबीस एक सौ चौबीस और तीन द्वार वाले प्रत्येक में एक सौ बीस एक सौ बीस जिन बिम्ब है; सब मिला कर ३९१३२० जिन बिम्ब होते हैं। शाश्वत-चैत्य लम्बाई में १०० योजन, चौड़ाई में ५० योजन और ऊँचाई में ७२ योजन है। इस के सिवाय व्यन्तर और ज्योतिष् लोक में भी शाश्वत-बिम्ब हैं। शाश्वत-बिम्ब के नाम श्रीऋषभ, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्द्धमान हैं[1]।

१—प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में भरत, ऐरवत या महाविदेह—सब क्षेत्रों के तीर्थङ्करों में 'ऋषभ' आदि चार नाम वाले तीर्थङ्कर अवश्य होते हैं। इस कारण ये नाम प्रवाहरूप से शाश्वत हैं।

वर्तमान कुछ तीर्थ---सम्मेतशिखर, अष्टापद, सिद्धाचल, गिरिनार, आबू, शङ्खेश्वर, केसरिया जी, तारंगा, अन्तरिक्ष, वरकाण, जीरावला, खंभात ये सब तीर्थ भरत क्षेत्र के हैं। इन के सिवाय और भी जो जो चैत्य है वे सभी वन्दनीय है।

. महाविदेह क्षेत्र में इस समय बीस तीर्थङ्कर वर्तमान हैं; सिद्ध अनन्त है; ढाई द्वीप में अनेक अनगार हैं; ये सभी वन्दनीय है।

४९---पोसहं पच्चक्खाण सूत्र।

† करेमि भंते ! पोसहं, आहार-पोसहं देसओ सव्वओ, सरीरसक्कार-पोसहं सव्वओ, बंभचेर-पोसहं सव्वओ,

° १--श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत पौषध कहलाता है। सो इस लिये कि उस से धर्म की पुष्टि होती है। यह व्रत अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथियों में चार प्रहर या आठ प्रहर तक लिया जाता है। इस के आहार, शरीर-सत्कार, ब्रह्मचर्य और अव्यापार, ये चार भेद हैं। [आवश्यक पृ० ८३५]। इन के देश और सर्व इस तरह दो दो भेद करने से आठ भेद होते हैं। परन्तु परम्परा के अनुसार इस समय मात्र आहार-पौषध देश से या सर्व से लिया जाता है; शेष पौषध सर्व से ही लिये जाते हैं। चउव्विहाहार उपवास करना सर्व-आहार-पौषध है; तिविहाहार, आयंबिल, एकासण आदि देश-आहार-पोषध हैं।

केवल रात्रि-पौषध करना हो तो भी दिन रहते ही चउव्विहाहार आदि किसी व्रत को करने की प्रथा है।

† करोमि भदन्त ! पोषधं, आहार-पोषधं देशतः सर्वतः, शरीरसत्कार-पोषधं सर्वतः, ब्रह्मचर्य-पोषधं सर्वतः, अव्यापार-पोषधं सर्वतः, चतुर्विधे

अव्वावार-पोसहं सव्वओ, चउव्विहे पोसहे ठामि । जावदिवसं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए कायेणं न करेमि, न कारवेमि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥१॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं पौषधव्रत करता हूँ । पहले आहारत्यागरूप पौषध को देश से या सर्वथा, दूसरे शरीर-शुश्रूषा-त्यागरूप पौषध को सर्वथा, तीसरे ब्रह्मचर्य-पालनरूप पौषध को सर्वथा और चौथे सावद्य व्यापार के त्यागरूप पौषध को सर्वथा, इस प्रकार चारों पौषध को मैं ग्रहण करता हूँ ।

ग्रहण किये हुए पौषध को मैं दिन-पर्यन्त या दिन-रात्रि-पर्यन्त दो करण और तीन योग से पालन करूँगा अर्थात् मन, वचन और काया से पौषधव्रत में सावद्य व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा ।

हे भगवन् ! पहले मैं ने जो पाप-सेवन किया, उस का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, उस की गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप-व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूँ ।

पौषधे तिष्ठामि । यावद्दिवसं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१॥

२—सिर्फ दिन का पौषध करना हो तो 'जावदिवसं', दिन-रात का करना हो तो 'जाव अहोरत्तं', और सिर्फ रात का करना हो तो 'सेसदिवस अहोरत्तं' कहना चाहिये ।

५०—पोसह पारने का सूत्र ।

† सागरचंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंमणो धन्नो ।
जेसिं पोसहपडिमा, अखंडिआ जीविअंतेवि ॥१॥
धन्ना सलाहणिज्जा, सुलमा आणंदकामदेवा य ।
जास पसंसइ भयवं, दढव्वयत्तं महावीरो ॥२॥

पौषधव्रत विधि से लिया और विधि से पूर्ण किया । तथापि कोई अविधि हुई हो तो मन, वचन और काय से मिच्छा मि दुक्कडं ।

भावार्थ—'सागरचन्द्र कुमार', 'कामदेव', 'चन्द्रावतंस' नरेश और 'सुदर्शन' श्रेष्ठी, ये सब धन्य हैं; क्यों कि इन्हों ने मरणान्त कष्ट सह कर भी पौषधव्रत को अखण्डित रक्खा ॥१॥

'सुलसा' श्राविका, 'आनन्द' और 'कामदेव' श्रावक, ये सब प्रशंसा के योग्य हैं; जिन के दृढ-व्रत की प्रशंसा भगवान् महावीर ने भी मुक्त-कण्ठ से की है ॥२॥

---

† सागरचन्द्रः कामश्चन्द्रावतंसः सुदर्शनो धन्यः ।
येषां पौषध प्रतिमाऽखण्डिता जीवितान्तेऽपि ॥१॥
धन्याः श्लाघनीयाः, सुलसाऽऽनन्दकामदेवौ च ।
येषां प्रशंसति भगवान्, दृढव्रतत्वं महावीरः ॥२॥

५१—पच्चक्खाणं सूत्र ।

दिन के पच्चक्खाण ।

[(१) नमुक्कार सहिअ मुट्ठिसहिय पच्चक्खाण ।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाई, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थ-णाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिया-गारेणं वोसिरइ ।

---

† उद्गते सूर्ये, नमस्कारसहितं मुष्टिसहितं प्रत्याख्याति चतुर्विधमप्याहारम् अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्, अन्यत्रानाभोगेन, सहसाकारेण, महत्त-राकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण, व्युत्सृजति ।

१–पच्चक्खाण के मुख्य दो भेद हैं:–(१) मूलगुण-पच्चक्खाण और (२) उत्तरगुण-पच्चक्खाण। इन दो के भी दो दो भेद हैं:—(क) सर्व-मूलगुण-पच्च क्खाण और देश-मूलगुण-पच्चक्खाण । (ख) सर्व-उत्तरगुण-पच्चक्खाण और देश-उत्तरगुण-पच्चक्खाण । साधुओं के महाव्रत सर्व-मूलगुण-पचक्खाण और गृहस्थों के अणुव्रत देश-मूलगुण-पच्चक्खाण हैं। देश-उत्तरगुण-पच्च-क्खाण तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं जो श्रावकों के लिये हैं। सर्व-उत्तर-गुण-पच्चक्खाण 'अनागत' आदि दस प्रकार का है जो साधु-श्रावक उभय के लिये है । वे दस भेद ये हैं:—

१. अनागत–पर्युषणा आदि पर्व में किया जाने वाला अट्ठम आदि तप उस पर्व से पहले ही कर लेना जिस से कि पर्व में ग्लान, वृद्ध, गुरु आदि की सेवा निर्बाध की जा सके ।
२. अतिक्रान्त—पर्व में वैयावृत्य आदि के कारण तपस्या न हो सके तो पीछे से करना ।
३. कोटिसहित—उपवास आदि पच्चक्खाण पूर्ण होने के बाद फिर से वैसा ही पच्चक्खाण करना ।

४ नियन्त्रित—जिस रोज जिस पच्चक्खाण के करने का संकल्प कर लिया गया हो उस रोज, रोग आदि अड़चनें आने पर भी वह सकल्पित पच्चक्खाण कर लेना। यह पच्चक्खाण चतुर्दश पूर्वधर जिनकल्पी और दश पूर्वधर मुनि के लिये है इस लिये इस समय विच्छिन्न है।

५ साकार—आगारपूर्वक —छूट रख कर-किया जाने वाला पच्चक्खाण।

६. अनाकार—छूट रक्खे बिना किया जाने वाला पच्चक्खाण।

७ परिमाणकृत दत्ती, कवल या गृह की संख्या का नियम करना।

८ निरवशेष—चतुर्विध आहार तथा अफीम, तँबाखू आदि अनाहार वस्तुओं का पच्चक्खाण।

९ साकेतिक—संकेत पूर्वक किया जाने वाला पच्चक्खाण। मुट्ठी में अँगूठा रखना, मुठी बाँधना, गाँठ बाँधना, इत्यादि कई संकेत हैं। साकेतिक पच्चक्खाण पोरिसी आदि के साथ भी किया जाता है और अलग भी। साथ इस अभिप्राय से किया जाता है कि पोरिसी आदि पूर्ण होने के बाद भोजन-सामग्री तैयार न हो या कार्य-वश भोजन करने में विलम्ब हो तो संकेत के अनुसार पच्चक्खाण चलता रहे। इसी से पोरिसी आदि के पचक्खाण में मुट्ठिसहियं इत्यादि कहा जाता है। पोरिसी आदि पच्चक्खाण न होने पर भी साकेतिक पच्चक्खाण किया जाता है। इस का उद्देश्य सिर्फ सुगमता से विरति का अभ्यास डालना है।

१० अद्धा पच्च०—समय की मर्यादा वाले, नमुक्कार-सहिअ—पोरिसी इत्यादि पच्चक्खाण।

—[आ० निर्यु० गा० १५६३ १५७९, भगवती शतक ७, उद्देश २, सूत्र २७२]

इस जगह साढ पोरिसी, अवड्ढ, और बियासण के पच्चक्खाण दिये गये हैं। ये आवश्यकनिर्युक्ति गा० १५९७ में कहे हुए दस पच्चक्खाण में नहीं हैं। वे दस पच्च० ये हैं—

१ नमुक्कारसहियं, २ पोरिसी, ३ पुरिमड्ढ, ४ एगासण, ५. एकलठान, ६ आयबिल, ७ अभत्तट्ठ (उपवास), ८ चरिम, ९ अभिग्रह और १० विगइ। तो भी यह जानना चाहिये कि साढ पोरिसी पच्चक्खाण

भावार्थ—सूरज उगने के समय से ले कर दो घड़ी दिन निकल आने पर्यन्त चारों आहारों का नमुक्कारसहिय मुट्ठिसहिय पच्चक्खाण किया जाता है अर्थात् नमुक्कार गिन कर मुट्ठी खोलने का संकेत कर के चार प्रकारका आहार त्याग दिया जाता है। वे चार आहार ये हैं:– (१) असन—रोटी आदि भोजन, (२) पान—दूध पानी आदि पीने योग्य चीजें, (३) खादिम—फल मेवा आदि और (४) स्वादिम—सुपारी, लवङ्ग आदि मुखवास। इन आहारों का त्याग चार आगारों (छूटों) को रख कर किया जाता है। वे चार आगार ये हैं:– (१) अनाभोग-बिल्कुल याद भूल जाना। (२) सहसाकार-

---

पोरिसी का सजातीय होने से उस के आधार पर प्रचलित हुआ है। इसी तरह अवड्ढ पुरिमड्ढ के आधार पर और बियासण एकासण के आधार पर प्रचलित है। [धर्मसंग्रह पृ०१९१]। चउव्विहाहार और तिविहाहार दोनों प्रकार के उपवास अभत्तट्ठ हैं। सायंकाल के पाणहार, चउव्विहाहार, तिविहाहार और दुविहाहार, ये चारों पच्चक्खाण चरिम कहलाते हैं।

देसावगासिय पच्चक्खाण उक्त दस पच्चक्खाणों के बाहर है। वह सामायिक और पौषध के पच्चक्खाण की तरह स्वतन्त्र है। देसावगासिय व्रत वाला इस पच्चक्खाण को अन्य पच्चक्खाणों के साथ सुबह-शाम ग्रहण करता है।

२—दूसरों को पच्चक्खाण कराना हो तो 'पच्चक्खाइ' और 'वोसिरइ' और स्वयं करना हो तो 'पच्चक्खामि' और 'वोसिरामि' कहना चाहिए।

१—रात्रि-भोजन आदि दोष-निवारणार्थ नमुक्कारसहिअ पच्चक्खाण है। इस की काल-मर्यादा दो घड़ी की मानी हुई है। यद्यपि मूल-पाठ में दो घड़ी का बोधक कोई शब्द नहीं है तथापि परंपरा से इस का काल-मान कम से कम दो घड़ी का लिया जाता है। [धर्मसंग्रह,पृ० '१']।

मेघ बरसने या दही मथने आदि के समय रोकने पर भी जल, छाँछ आदि त्याग की हुई वस्तुओं का मुख में चला जाना। (३) महत्तराकार-विशेष निर्जरा आदि खास कारण से गुरु की आज्ञा पा कर निश्चय किये हुये समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लेना। (४) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—तीव्र रोग की उपशान्ति के लिये औषध आदि ग्रहण करने के निमित्त निर्धारित समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लेना।

आगार का मतलब यह है कि यदि उस समय त्याग की हुई वस्तु सेवन की जाय तो भी पच्चक्खाण का भङ्ग नहीं होता।

[(२)—पोरिसी-साढपोरिसी पच्चक्खाण।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं[1], साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं, पच्चक्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक चारों आहारों का नमुक्कारसहिअ पच्चक्खाण किया जाता है। यह पच्चक्खाण सात आगारों को रख कर किया जाता। (१) अनाभोग। (२) सहसाकार। (३) प्रच्छन्नकाल—मेघ, रज, ग्रहण आदि

† पौरुषीम्। सार्धपौरुषीम्। प्रच्छन्नकालेन। दिग्मोहेन। साधुवचनेन

१—पोरिसी के पच्चक्खाण में 'साढपोरिसिं' पद और साढपोरिसी के पच्चक्खाण में 'पोरिसिं' पद नहीं बोलना चाहिए।

के द्वारा सूर्य ढक जाने से पोरिसी या सांढपोरिसी का समय मालूम न होना । (४) दिग्मोह–दिशा का भ्रम होने से पोरिसी या साढपोरिसी का समय ठीक ठीक न जानना । (५) साधुवचन–साधु के 'उंग्घाडा पोरिसी' शब्द को जो कि व्याख्यान में पोरिसी पढ़ाते वक्त बोला जाता है, सुन कर अधूरे समय में ही पच्चक्खाण को पार लेना । (६) महत्तराकार । (७) सर्व-समाधिप्रत्ययाकार ।

[(३)—पुरिमड्ढ-अवड्ढ-पच्चक्खाण ।]

‡ सूरे उग्गए, पुरिमड्ढं[1], अवड्ढं, मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ; चउव्विहंपि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर पूर्वार्ध–दो प्रहर–तक पच्चक्खाण करना पुरिमड्ढ है और तीन प्रहर तक पच्चक्खाण करना अवड्ढ है। इस के सात आगार हैं और वे पोरिसी के पच्चक्खाण के समान हैं ।

[(४)—एगासण, बियासण तथा एकलठाने[2] का पच्चक्खाण ।]

---

‡ पूर्वार्धम् । अपरार्धम् ।

१—अवड्ढ के पच्चक्खाण में 'पुरिमड्ढं' पद और पुरिमड्ढ के पच्चक्खाण में 'अवड्ढं' पद नहीं बोलना चाहिए ।

२—एकलठाने के पच्चक्खाण में 'आउंटणपसारणेणं' को छोड़ कर और सब पाठ एगासण के पच्चक्खाण का ही बोलना चाहिए । एकलठाने में मुँह, और दाहिने हाथ के सिवा अन्य किसी अङ्ग को नहीं हिलाना चाहिए और जीम कर उसी जगह चउव्विहाहार कर लेना चाहिए ।

[1]उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठि-सहिअं, पच्चक्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्न-कालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं। विगईओ[1] पच्चक्खाइ; अन्नत्थणा-भोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं[2], गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। बियासणं[3] पच्चक्खाइ; तिविहंपि[4] आहारं—असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं,

---

[1] विकृतीः। लेपालेपेन। गृहस्थसंसृष्टेन। उत्क्षिप्तविवेकेन। प्रतीत्य म्रक्षितेन। पारिष्ठापनिकाकारेण। द्व्यशनम्। त्रिविधमपि। सागारिकाकारेण। आकुञ्चनप्रसारणेन। गुर्वभ्युत्थानेन। पानस्य लेपेन वा। अलेपेन वा। अच्छेन वा। बहुलेपेन वा। ससिक्थेन वा। असिक्थेन वा।

१—विकार पैदा करने वाली वस्तुओं को 'विकृति' कहते हैं। विकृति भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार की है। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और पक्वान्न, ये छह भक्ष्य-विकृतियाँ हैं। मांस, मद्य, मधु और मक्खन ये चार अभक्ष्य-विकृतियाँ हैं। अभक्ष्य का तो श्रावक को सर्वथा त्याग होता ही है; भक्ष्य-विकृति भी एक या एक से अधिक यथाशक्ति इस पच्चक्खाण के द्वारा त्याग दी जाती है।

२—'लेवालेवेणं' से ले कर पाँच आगार मुनि के लिये हैं, गृहस्थ के लिये नहीं।

३—एगासण के पच्चक्खाण में 'बियासणं' की जगह पर 'एगासणं' पाठ पढ़ना चाहिए।

४—तिविहाहार में जीमने के बाद सिर्फ पानी लिया जा सकता है, इस लिये 'पाणं' नहीं कहना चाहिए। यदि दुविहाहार करना हो तो 'दुविहंपि

सहसागारेणं, सागारिआगारेणं, आउंटणपसारणेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं[1], महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा[3], अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में नमुक्कारसहिअ, पोरिसी आदि का पच्चक्खाण किया जाता है; इस लिये इस में सात आगार भी पोरिसी के ही हैं । एगासण-बियासण में विगइ का पच्चक्खाण करने वाले के लिये 'विगइओ' इत्यादि पाठ है । विगइ पच्चक्खाण में नौ आगार हैं:—

(१) अनाभोग । (२) सहसाकार । (३) लेपालेप—घृत आदि लगे हुए हाथ, कुडछी आदि को पोंछ कर उस से दिया

आहारं' कह कर पच्चक्खाण करना चाहिए। दुविहाहार में जीमने के बाद पानी तथा मुखवास लिया जाता है, इस लिये इस में 'पाणं' तथा 'साइमं' नहीं बोला जायगा। यदि चउव्विहाहार करना हो तो 'चउव्विहंपि आहारं' कहना चाहिए। इस में जीमने के बाद चारों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस में 'असणं, पाणं' आदि सब कहना चाहिए।

१—यह आगार एकासण, बियासण, आयंबिल, विगइ, उपवास, आदि पच्चक्खाण के लिये साधारण है। इस लिये चउव्विहाहार उपवास के समय गुरु की आज्ञा से मात्र अचित्त जल, तिविहाहार उपवास में अन्न और पानी और आयंबिल में विगइ, अन्न और पानी लिये जाते हैं।

२—'पाणस्स लेवेण वा' आदि छह आगार एकासण करने वाले को चउव्विहाहार और तिविहाहार के पच्चक्खाण में और दुविहाहार में अचित्त भोजन और अचित्त पानी के लेने वाले को ही पढ़ने चाहिए।

३—'लेवाडेण वा अलेवाडेण वा' इत्यपि पाठः ।

हुआ आहार ग्रहण करना। (४) गृहस्थसंसृष्ट—घी, तैल आदि से छौंके हुए शाक-दाल आदि लेना या गृहस्थ ने अपने लिये जिस पर घी आदि लगाया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (५) उत्क्षिप्तविवेक—ऊपर रक्खे हुए गुड़ शक्कर आदि को उठा लेने पर उन का कुछ अंश जिस में लगा रह गया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (६) प्रतीत्यम्रक्षित भोजन बनाते समय जिन चीजों पर सिर्फ उँगली से घी तेल आदि लगाया गया हो ऐसी चीजों को लेना। (७) पारिष्ठापनिकाकार—अधिक हो जाने के कारण जिस आहार को परठवना पडता हो तो परठवन के दोष से बचने के लिये उस आहार को गुरु की आज्ञा से ग्रहण कर लेना। (८) महत्तराकार। (९) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।

बियासण में चौदह आगार हैं:-(१) अनाभोग। (२) सहसाकार। (३) सागारिकाकार—जिन के देखने से आहार करने की शास्त्र में मनाही है, उन के उपस्थित हो जाने पर स्थान बदल कर दूसरी जगह चले जाना। (४) आकुञ्चनप्रसारण—सुन्न पड़ जाने आदि कारण से हाथ-पैर आदि अङ्गों का सिकोड़ना या फैलाना। (५) गुर्वभ्यु-त्थान—किसी पाहुने मुनि के या गुरु के आने पर विनय-सत्कार के लिये उठ जाना। (६) पारिष्ठापनिकाकार। (७) महत्तराकार। (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। (९) पानलेप—दाल आदि का माँड़ तथा इमली, द्राक्षा आदि का पानी। (१०) अलेप—साबूदाने आदि का धोवन तथा छाँछ का निथरा हुआ पानी। (११) अच्छ—

तीन बार औटा हुआ स्वच्छ पानी। (१२) बहुलेप—चावल आदि का चिकना माँण। (१३) ससिक्थ—आटे आदि से लिप्त हाथ या बरतन का धोवन। (१४) असिक्थ—आटा लगे हुए हाथ या बरतन का कपड़े से छना हुआ धोवन।

[(५)—आयंबिल-पच्चक्खाण[1] ।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। आयंबिलं पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। एगासणं पचक्खाइ; तिविहंपि आहारं[2]—असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटणपसारणेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं,

---

१—इस व्रत में प्रायः नीरस आहार लिया जाता है। चावल, उड़द, या सत्तू आदि से इस व्रत को किये जाने का शास्त्र में उल्लेख है। इस का दूसरा नाम 'गोण्ण' मिलता है। [आव० नि०, गा० १६०३]।

† आचामाम्लम्।

२—आयंबिल में एगासण की तरह दुविहाहार का पच्चक्खाण नहीं किया जाता; इस लिये इस में 'तिविहंपि आहारं' या 'चउव्विहंपि आहारं' पाठ बोलना चाहिए।

पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ ।

भावार्थ—आयंबिल में पोरिसी या साढपोरिसी तक सात आगारपूर्वक चारों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस के शुरू में पोरिसी या साढपोरिसी का पच्चक्खाण है। पीछे आयंबिल करने का पच्चक्खाण आठ आगार-सहित है । आयंबिल में एक दफा जीमने के बाद पानी के सिवाय तीनों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस में चौदह आगारसहित तिविहाहार एगासण का भी पच्चक्खाण है ।

[(६)—तिविहाहार-उपवास-पच्चक्खाण ।]

* सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं[1] पच्चक्खाइ । तिविहंपि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिव-

---

* अभुक्तार्थम् । पानाहारम् ।

१—उपवास के पहले तथा पिछले रोज एकासण हो तो 'चउत्थभत्तं-अब्भत्तट्ठं', दो उपवास के पच्चक्खाण में 'छट्ठभत्तं', तीन उपवास के पच्चक्खाण में 'अट्ठमभत्तं' पढ़ना चाहिए । इस प्रकार उपवास की संख्या को दूना कर के उस में दो और मिलाने से जो संख्या आवे उतने 'भत्तं' कहना चाहिए। जैसेः—चार उपवास के पच्चक्खाण में 'दसमभत्तं' और पाँच उपवास के पच्चक्खाण में 'बारहभत्तं' इत्यादि ।'

त्तियागारेणं । पाणहार पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं, पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर दूसरे रोज के सूर्योदय तक तिविहाहार अभक्तार्थ–उपवास–का पच्चक्खाण किया जाता है । इस में पाँच आगार रख कर पानी के सिवाय तीन आहारों का त्याग किया जाता है । पानी भी पोरिसी या साढपोरिसी तक तेरह आगार रख कर छोड़ दिया जाता है; इसी लिये 'पाणहार पोरिसिं' इत्यादि पाठ है ।

[(७)—चउव्विहाहार-उपवास-पच्चक्खाण[1] ।]

सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ। चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में सूर्योदय से ले कर दूसरे

१—जो शुरू से चउव्विहाहार उपवास करता है, उस के लिये तथा दिन में तिविहाहार का पच्चक्खाण कर के जिस ने पानी न पिया हो, उस के लिये भी यह पच्चक्खाण है । शुरू से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' बोलना और सायंकाल से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए ।

रोज के सूर्योदय तक पाँच आगार रख कर चारों आहारों का त्याग किया जाता है ।

रात के पच्चक्खाण ।

[(१)—पाणाहार-पच्चक्खाण[1]।]

पाणहार दिवसचरिमं पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—यह पच्चक्खाण दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त पानी का त्याग करने के लिये है ।

[(२)—चउव्विहाहार-पच्चक्खाण[2]।]

दिवसचरिमं[3] पच्चक्खाइ, चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त चारों आहारों का त्याग किया जाता है ।

[(३)—तिविहाहार-पच्चक्खाण[4]।]

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, तिविहंपि आहारं—असणं,

१—यह पच्चक्खाण एगासण, बियासण, आयंबिल और तिविहाहार उपवास करने वाले को सायंकाल में लेने का है ।

२—दिन में एगासण आदि पच्चक्खाण न करने वाले और रात्रि में चारों आहारों का त्याग करने वाले के लिये यह पच्चक्खाण है ।

३—अल्प आयु बाकी हो और चारों आहारों का त्याग करना हो तो 'दिवसचरिमं' की जगह 'भवचरिमं' पढ़ा जाता है ।

४—इस पच्चक्खाण का अधिकारी वह है जिस ने एगासण, बियासण आदि व्रत नहीं किया हो ।

खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि पर्यन्त पानी को छोड़ तीन आहार का त्याग किया जाता है।

[(४)—दुविहाहार-पच्चक्खाण[१] ।]

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, दुविहंपि आहारं—असणं, खाइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि पर्यन्त पानी और मुखवास को छोड़ कर शेष दो आहारों का त्याग किया जाता है ।

[(५)—देसावगासिय-पच्चक्खाण ।]

देसावगासियं उवभोगं[२] परिभोगं पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—सातवें व्रत में भोगोपभोग की चीजों का जितना परिमाण प्रातःकाल में रक्खा है अर्थात् सचित्त द्रव्य,

---

१—एगासण आदि नहीं करने वाला व्यक्ति इस को करने का अधिकारी है ।

२—सातवें व्रत का संकोच करने के अभिप्राय से 'उवभोगं परिभोगं' शब्द हैं । केवल छठे व्रत का संकोच करने वाले को ये शब्द नहीं पढ़ने चाहिए। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अणुव्रत आदि सब व्रतों का संक्षेप भी इसी पच्चक्खाण द्वारा किया जाता है । [धर्मसंग्रह पृ० ६१ ।]

विगइ आदि जो चौदह नियम लिये हैं, इस पच्चक्खाण से सायं-काल में उस का संक्षेप किया जाता है।

५२—संथारा पोरिसी।

† निसीहि, निसीहि, निसीहि, नमो खमासमणाणं गोयमाईणं महामुणीणं।

[इस के बाद नमुक्कार-पूर्वक 'करेमि भंते' सूत्र तीन बार पढ़ना चाहिये]।

भावार्थ—[नमस्कार।] पाप-व्यापार के बार बार निषेधपूर्वक श्रीगौतम आदि क्षमाश्रमण महामुनिओं को नमस्कार हो।

* अणुजाणह जिट्ठिज्जा !

'अणुजाणह परमगुरु !; गुरुगुणरयणेहिँ मंडियसरीरा।
बहुपडिपुन्ना पोरिसि, राइयसंथारए ठामि ॥१॥

भावार्थ—[संथारा के लिये आज्ञा।] हे श्रेष्ठ गुणों से अलङ्कृत परम गुरु ! आप मुझ को संथारा (शयन) करने की

---

† निषिध्य, निषिध्य, निषिध्य, नमः क्षमाश्रमणेभ्यः गौतमादिभ्यो महामुनिभ्यः।

* अनुजानीत ज्येष्ठार्याः !

' अनुजानीत परमगुरवः !, गुरुगणरत्नैर्मण्डितशरीराः।
बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी, रात्रिके संस्तारके तिष्ठामि ॥१॥

आज्ञा दीजिये; क्यों कि एक प्रहर परिपूर्ण बीत चुका है । इस लिये मैं रात्रि-संथारा करना चाहता हूँ ॥१॥

* अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं ।
कुक्कुडिपायपसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं ॥२॥
संकोइअ संडासा, उव्वट्टंते अ कायपडिलेहा ।
दव्वाईउवओगं, ऊसासनिरुंभणालोए ॥३॥

भावार्थ—[संथारा करने की विधि।] मुझ को संथारा की आज्ञा दीजिये । संथारे की आज्ञा देते हुए गुरु उस की विधि का उपदेश देते हैं । मुनि बाहु को सिराने रख कर बाँये करवट सोवे और वह मुर्गी की तरह ऊँचे पाँव रख कर सोने में असमर्थ हो तो भूमि का प्रमार्जन कर उस पर पाँव रखे। घुटनों को सिकोड़ कर सोवे । करवट बदलते समय शरीर को पडिलेहण करे। जागने के निमित्त द्रव्यादि से आत्मा का चिन्तन करे; इतने पर

---

* अनुजानीत संस्तारं, बाहूपधानेन वामपार्श्वेन ।
कुक्कुटीपादप्रसारणेऽशक्नुवन् प्रमार्जयेत् भूमिम् ॥२॥

संकोच्य संदंशावुद्वर्तमानश्च कायं प्रतिलिखेत् ।
द्रव्याद्युपयोगेनोच्छ्वासनिरोधेन आलोकं (कुर्यात्) ॥३॥

१—मैं वस्तुतः कौन और कैसा हूँ ? इस प्रश्न को सोचना द्रव्य-चिन्तन; तत्त्वतः मेरा क्षेत्र कौनसा है ? इस का विचारना क्षेत्र-चिन्तन; मैं प्रमादवश रात्रि में सोया पड़ा हूँ या अप्रमत्तभाववश दिन में वर्तमान हूँ ? इस का विचार करना काल-चिन्तन और मुझे इस समय लघु-शङ्का आदि द्रव्य-बाधा और राग-द्वेष आदि भाव-बाधा कितनी है, यह विचारना भाव-चिन्तन है ।

भी यदि पूरे तौर से निद्रा दूर न हो तो श्वास को रोक कर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे (दरवाजे की ओर देखे) ॥२॥३॥

* जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥ ४ ॥

भावार्थ--[नियम ।] यदि इस रात्रि में मेरी मृत्यु हो तो अभी से आहार, उपधि और देह का मन, वचन और काय से मेरे लिये त्याग है ॥४॥

‡ चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ॥५॥

चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥६॥

॰ चत्तारि सरणं पवज्जामि-अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥७॥

---

* यदि मे भवेत्प्रमादोऽस्य देहस्यास्यां रजन्याम् ।
आहारमुपधिदेहं, सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टम् ॥४॥

‡ चत्वारि मङ्गलानि—अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साधवो मङ्गलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ॥५॥

चत्वारो लोकोत्तमाः-अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो लोकोत्तमाः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ॥६॥

॰ चत्वारि शरणानि प्रपद्ये-अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून् शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥७॥

भावार्थ—[प्रतिज्ञा।] मङ्गलभूत वस्तुएँ चार ही हैं:-(१) अरिहन्त, (२) सिद्ध, (३) साधु और (४) केवलि-कथित धर्म। लोक में उत्तम वस्तुएँ भी ये चार ही हैं:—(१) अरिहन्त, (२) सिद्ध, (३) साधु और केवलि कथित धर्म। इस लिये मैं उन चारों की शरण अङ्गीकार करता हूँ ॥५-७॥

* पाणाइवायमलिअं, चोरिक्कं मेहुणं दविणमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोहं पिज्जं तहा दोसं ॥८॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ समाउत्तं।
परपरिवायं माया,-मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥९॥
वोसिरसु इमाइं मु,-क्खमग्गसंसग्गविग्घभूआइं।
दुग्गइनिबंधणाइं, अट्ठारस पावठाणाइं ॥१०॥

भावार्थ—[पापस्थान-त्याग।] हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान-मिथ्यादोषारोप, पैशुन्य, रति-अरति, परपरिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्यात्वशल्य, ये अठारह पापस्थान मोक्ष की राह पाने में विघ्नरूप हैं। इतना ही नहीं, बल्कि दुर्गति के कारण हैं; इस लिये ये सभी त्याज्य हैं ॥८-१०॥

---

* प्राणातिपातमलीकं, चौर्यं मैथुनं द्रविणमूर्छाम् ।
क्रोधं मानं मायां, लोभं प्रेयं तथा द्वेषम् ॥८॥
कलहमभ्याख्यानं, पैशुन्यं रत्यरति-समायुक्तम् ।
परपरिवादं मायामृषा मिथ्यात्वशल्यं च ॥९॥
व्युत्सृजेमानि मोक्षमार्गसंसर्गविघ्नभूतानि ।
दुर्गतिनिबन्धनान्यष्टादश पापस्थानानि ॥१०॥

* एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥११॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१३॥

भावार्थ---[एकत्व और अनित्यत्व भावना ।] मुनि प्रसन्न चित्त से अपने आत्मा को समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ । ज्ञान-दर्शन पूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है; आत्मा को छोड़ कर अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं । मैं ने परसंयोग से ही अनेक दुःख प्राप्त किये हैं; इस लिये उस का सर्वथा त्याग किया है ॥११-१३॥

† अरिहंतो मम देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥१४॥

भावार्थ---[सम्यक्त्व-धारण ।] मैं इस प्रकार का सम्यक्त्व

---

* एकोऽहं नास्ति मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
एवमदीनमना, आत्मानमनुशास्ति ॥११॥
एको मे शाश्वत आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुतः ।
शेषा मे बाह्या भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १२ ॥
संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात् संयोगसंबन्धः, सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टः ॥१३॥

† अर्हन् मम देवो, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः ।
जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वमिति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१४॥

अङ्गीकार करता हूँ कि जिस में जीवन-पर्यन्त अरिहन्त ही मेरे देव हैं, सुसाधु ही मेरे गुरु हैं और केवलि-कथित मार्ग ही मेरे लिये तत्त्व है ॥१४॥

* खामिअ खमाविअ मइ खमह, सव्वह जीवनिकाय।
सिद्धह साख आलोयणह, मुज्झह वइर न भाव ॥१५॥
सव्वे जीवा कम्मवस, चउदहराज भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ, मुज्झवि तेह खमंत ॥१६॥

भावार्थ—[खमण-खामणा।] हे जीवगण! तुम सब खमण-खामणा कर के मुझ पर भी क्षमा करो। किसी से मेरा वैर भाव नहीं है। सब सिद्धों को साक्षी रख कर यह आलोचना की जाती है। सभी जीव कर्म-वश चौदह-राजु-प्रमाण लोक में भ्रमण करते हैं, उन सब को मैं ने खमाया है, इस लिये वे मेरे पर क्षमा करें ॥१५॥१६॥

† जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासिअं पावं।
जं जं कायेण कयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥१७॥

भावार्थ—[मिच्छा मि दुक्कडं।] जो जो पाप मैं ने मन, वचन और शरीर से किया, वह सब मेरे लिये मिथ्या हो ॥१७॥

---

* क्षमित्वा क्षमयित्वा मयि क्षमध्वं, सर्वे जीवनिकायाः।
सिद्धानां साक्ष्ययालोचयामि, मम वैरं न भावः ॥ १५ ॥
सर्वे जीवाः कर्मवशाश्चतुर्दश रज्जौ भ्राम्यन्तः।
ते मया सर्वे क्षामिताः, मय्यपि ते क्षाम्यन्तु ॥ १६ ॥

† यद् यद् मनसा बद्धं, यद् यद् वाचा भाषितं पापम्।
यद् यद् कायेन कृतं, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ॥ १७ ॥

५३—स्नातस्या की स्तुति ।

स्नातस्याप्रतिमस्य मेरुशिखरे शच्या विभोः शैशवे,
रूपालोकनविस्मयाहृतरसभ्रान्त्या भ्रमच्चक्षुषा ।
उन्मृष्टं नयनप्रभाधवलितं क्षीरोदकाशङ्कया,
वक्त्रं यस्य पुनः पुनः स जयति श्रीवर्द्धमानो जिनः ॥१॥

भावार्थ—[महावीर की स्तुति ।] भगवान् महावीर की सब जगह जय हो रही है । भगवान् इतने अधिक सुन्दर थे कि बाल्यावस्था में मेरु पर्वत पर स्नान हो चुकने के बाद इन्द्राणी को उन का रूप देख कर अचरज हुआ । अचरज से वह भक्ति-रस में गोता लगाने लगी और उस के नेत्र चञ्चल हो उठे । भगवान् के मुख पर फैली हुई नेत्र की प्रभा इतनी स्वच्छ व धवल थी जिसे देख इन्द्राणी को यह आशङ्का हुई कि स्नान कराते समय मुख पर क्षीर समुद्र का पानी तो कहीं बाकी नहीं रह गया है । इस आशङ्का से उस ने भगवान् के मुख को कपड़े से पोंछा और अन्त में अपनी आशङ्का को मिथ्या समझ कर मुख के सहज सौन्दर्य को पहचान लिया ॥१॥

हंसांसाहतपद्मरेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतैः,
कुम्भैरप्सरसां पयोधरभरप्रस्पर्द्धिभिः काञ्चनैः ।
येषां मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेकः कृतः,
सर्वैः सर्वसुरासुरेश्वरगणैस्तेषां नतोऽहं क्रमान् ॥२॥

भावार्थ—[जिनेश्वरों की स्तुति ।] मैं जिनेश्वरों के चरणों में नमा हुआ हूँ । जिनेश्वर इतने प्रभावशाली थे कि उन का

जन्माभिषेक सभी देवेन्द्रों और दानवेन्द्रों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर किया था। जन्माभिषेक के लिये कलशों में भर कर जो पानी लाया गया था, वह था यद्यपि क्षीर समुद्र का, अत एव दूध की तरह श्वेत, परन्तु उस में हंसों के परों से उड़ाई गई कमल-रज इतनी अधिक थी कि जिस से वह सहज-श्वेत जल भी पीला हो गया था। पानी ही पीला था, यह बात नहीं किन्तु पानी से भरे हुए कलशे भी स्वर्णमय होने के कारण पीले ही थे। इस प्रकार पीले पानी से भरे हुए स्वर्णमय कलशों की शोभा अनोखी थी अर्थात् वे कलशे अप्सराओं के स्तनों को भी मात करते थे ॥२॥

अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं द्वादशाङ्गं विशालं,
चित्रं बह्वर्थयुक्तं मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः।
मोक्षाग्रद्वारभूतं व्रतचरणफलं ज्ञेयभावप्रदीपं,
भक्त्या नित्यं प्रपद्ये श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारम् ॥३॥

भावार्थ—[आगम-स्तुति।] मैं समस्त श्रुत–आगम का भक्ति-पूर्वक आश्रय लेता हूँ; क्यों कि वह तीर्थङ्करों से अर्थ-रूप में प्रकट हो कर गणधरों के द्वारा शब्दरूप में ग्रथित हुआ है। वह श्रुत विशाल है अत एव बारह अङ्गों में विभक्त है। वह अनेक अर्थों से युक्त होने के कारण अद्भुत है, अत एव उस को बुद्धिमान् मुनिपुङ्गवों ने धारण कर रक्खा है। वह चारित्र

का कारण है, इस लिये मोक्ष का प्रधान साधन है । वह सब पदार्थों को प्रदीप के समान प्रकाशित करता है, अत एव वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अद्वितीय सारभूत है ॥३॥

निष्पङ्कव्योमनीलद्युतिमलसदृशं बालचन्द्राभदंष्ट्रं,
मत्तं घण्टारवेण प्रसृतमदजलं पूरयन्तं समन्तात् ।
आरूढो दिव्यनागं विचरति गगने कामदः कामरूपी,
यक्षः सर्वानुभूतिः दिशतु मम सदा सर्वकार्येषु सिद्धिम् ॥४॥

भावार्थ—[यक्ष की स्तुति ।] सर्वानुभूति नाम का यक्ष मुझ को सब कामों में सदा सिद्धि देवे । यह यक्ष अपनी इच्छा के अनुसार अपने रूप बनाता है, भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करता है और दिव्य हाथी पर सवार हो कर गगन-मण्डल में विचरण करता है । उस दिव्य हाथी की कान्ति स्वच्छ आकाश के समान नीली है; उस के मदपूर्ण नेत्र कुछ मुँदे हुये हैं और उस के दाँत की आकृति द्वितीया के चन्द्र के समान है । वह हाथी घण्टा के नाद से उन्मत्त है और झरते हुए मद-जल को चारों ओर फैलाने वाला है ॥४॥

विधियाँ।

सामायिक लेने की विधि[1]।

श्रावक-श्राविका सामायिक लेने से पहिले शुद्ध वस्त्र पहन कर चौकी (बाजोठ) आदि उच्च स्थान पर पुस्तक-जप-माला आदि रख कर, जमीन पूँज कर, आसन बिछा कर चर-वला मुँहपत्ति[2] ले कर बैठे। बैठ के बाँये हाथ में मुहपत्ति मुख के आगे रख कर दाहिने हाथ को स्थापन किये पुस्तक आदि के संमुख कर के तीन 'नमुक्कार' पढ़ कर 'पंचिंदियसवरणो'[3] पढ़े

१—विधि के उद्देश्य,—जो आप नियमित बनना चाहता है और दूसरों को भी नियम-बद्ध बनाना चाहता है, उस के लिये आवश्यक है कि वह आज्ञा-पालन के गुण को पूरे तौर से प्राप्त करे। क्यों कि जिस में पूज्यों की आज्ञा का पालन करने का गुण न्हा है वह न तो अन्य किसी तरह का गुण ही प्राप्त कर सकता है और न नियमित बन कर औरों को अपने अधिकार में ही रख सकता है। इस लिये प्रत्येक विधि का मुख्य उद्देश्य संक्षेप में इतना ही है कि आज्ञा का पालन करना, तो भी उस के गौण उद्देश्य आगे टिप्पणी में यथास्थान लिख दिये गये हैं।

२—मुहपत्ति एक एक बालिश्त और चार चार अङ्गुल की लम्बी-चौड़ी तथा चरवला बत्तीस अङ्गुल का जिस में चौबीस अङ्गुल की डाँड़ी और आठ अङ्गुल की दशी हो, लेना चाहिये।

३—स्थापना विधि में पुस्तक आदि के संमुख हाथ रख कर नमुक्कार तथा पंचिंदिय सूत्र पढ़े जाते हैं। इस का मतलब इतना ही है कि इन सूत्रों से परमेष्ठी और गुरु के गुण याद कर के 'आह्वान-मुद्रा' के द्वारा उन का आह्वान किया जाता है। नमुक्कार के द्वारा पञ्च परमेष्ठी को और पंचिंदिय के

[यदि स्थापनाचार्य हो तो इस के पढ़ने की जरूरत नहीं है।] पीछे 'इच्छामि खमा०, इरियावहियं[3], तस्स उत्तरी[4], अन्नत्थ ऊससि[5]-

द्वारा गुरु की, इस प्रकार दो स्थापनाएँ की जाती हैं। पहली स्थापना का आलम्बन, देववन्दन आदि क्रियाओं के समय और दूसरी स्थापना का आलम्बन, कायोत्सर्ग आदि अन्य क्रियाओं के समय लिया जाता है।

१—जो क्रियाएँ बड़ों के संमुख की जाती हैं वे मर्यादा व स्थिरभावपूर्वक हो सकती हैं; इसी लिये सामायिक आदि क्रियाएँ गुरु के सामने ही की जाती हैं। गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य के संमुख भी ये क्रियाएँ की जाती हैं। जैसे तीर्थङ्कर के अभाव में उन की प्रतिमा आदि आलम्बनभूत है, वैसे ही गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य भी। गुरु के संमुख जिस मर्यादा ओर भाव-भक्ति से क्रियाएँ की जाती हैं, उसी मर्यादा व भाव-भक्ति को गुरुस्थानीय स्थापनाचार्य के संमुख बनाये रखना, यह समझ तथा दृढ़ता की पूरी कसौटी है। स्थापनाचार्य के अभाव में पुस्तक, जपमाला आदि जो ज्ञान-ध्यान के उपकरण हैं, उन की भी स्थापना की जाती है।

२—खमासमण देने का उद्देश्य, गुरु के प्रति अपना विनय-भाव प्रकट करना है, जो सब तरह से उचित ही है।

३—'इरियावहियं' पढ़ने के पहले उस का आदेश माँगा जाता है। आदेश माँगना क्या है, एक विनय का प्रगट करना है। और विनय धर्म का मूल है।

प्रत्येक धार्मिक-प्रवृत्ति की सफलता के लिये भाव-शुद्धि जरूरी है और वह किये हुए पापों का पछितावा किये विना हो नहीं सकती। इसी लिये 'इरियावहियं' से पाप की आलोचना की जाती है।

४—इस सूत्र के द्वारा काउस्सग्ग का उद्देश्य बतलाया जाता है।

५—जो शारीरिक क्रियाएँ स्वाभाविक हैं अर्थात् जिन का रोकना संभव नहीं या जिन के रोकने से शान्ति के बदले अशान्ति के होने की अधिक संभावना है उन क्रियाओं के द्वारा काउस्सग्ग भङ्ग न होने का भाव इस सूत्र से प्रकट

एणं' कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग[1] करे। काउस्सग्ग पूरा होने पर 'नमो अरिहंताणं' कह कर उसे पार के प्रकट (खुला) 'लोगस्स'[2] पढ़े। पीछे 'इच्छामि खमा०' दे कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् सामायिकमुँहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' इस प्रकार कह कर पचास[3] बोल

१—हर जगह काउस्सग्ग के करने का यही मतलब है कि दोषों की आलोचना या महात्माओं के गुण-चिन्तन द्वारा धीरे धीरे समाधि का अभ्यास डाला जाय, ताकि परिणाम-शुद्धि द्वारा सभी क्रियाएँ सफल हों।

एक 'लोगस्स' के काउस्सग्ग का कालमान पच्चीस श्वासोच्छ्वास का माना गया है। [आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ७८७]। इस लिये 'चंदेसु निम्मलयरा' तक वह किया जाता है; क्यों कि इतने ही पाठ में मध्यम गति से पच्चीस श्वासोच्छ्वास पूरे हो जाते हैं।

२—इस का उद्देश्य देववन्दन करना है, जो सामायिक लेने के पहले आवश्यक है। यही संक्षिप्त देववन्दन है।

३-सूत्र अर्थकरी सद्दहुं १
सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय परिहरुं ३
काम-राग, स्नेह-राग, दृष्टि-राग परिहरुं ... ३
सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरुं ३
कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरुं ३
ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरुं ३
ज्ञान विराधना, दर्शन-विराधना और चारित्र-विराधना परिहरुं ३
मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति, काय-गुप्ति आदरुं ... ३
मन-दण्ड, वचन-दण्ड, काय-दण्ड परिहरुं ... ३
हास्य, रति, अरति परिहरुं ३
भय, शोक, दुगुञ्छा परिहरुं ३
कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या परिहरुं ... ३

सहित मुहपत्ति की पडिलेहणा करे । फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् सामायिक संदिसाहुं[2] ? इच्छं' कहे । फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा०, सामायिक ठांउं ? इच्छं' कह के

ऋद्धि-गारव, रस-गारव, साता-गारव परिहरुं ...	३
माया-शल्य, नियाण शल्य, मिच्छादंसण शल्य परिहरुं	३
क्रोध, मान, परिहरुं	२
माया, लोभ परिहरुं	२
पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय की रक्षा करुं ...	३
वायु-काय, वनस्पति-काय, त्रस-काय की यतना करुं...	३
	कुल ५०

१—पडिलेहण के वक्त पचास बोल कहे जाने का मतलब, कषाय आदि अशुद्ध परिणाम को त्यागना और समभाव आदि शुद्ध परिणाम में रहना है । उक्त बोल पढ़ने के समय मुहपत्ति पडिलेहण का एक उद्देश्य तो मुहपत्ति को मुँह के पास लेजाने और रखने में उस पर थूक, कफ आदि गिर पड़ा हो तो मुहपत्ति फैला कर उसे सुखा देना या निकाल देना है । जिस से कि उस में संमूर्च्छिम जीव पैदा न हों। दूसरा उद्देश्य, असावधानी के कारण जो सूक्ष्म जन्तु मुहपत्ति पर चढ़ गये हों उन्हें यत्नपूर्वक अलग कर देना है, जिस से कि वे पञ्चाङ्ग-नमस्कार आदि के समय दब कर मर न जायँ । इसी प्रकार पडिलेहण का यह भी एक गौण उद्देश्य है कि प्राथमिक अभ्यासी ऐसी ऐसी स्थूल क्रियाओं में मन लगा कर अपने मन को दुनियाँदारी के बखेड़ों से खींच लेने का अभ्यास डाले ।

२—"सामायिक संदिसाहुं" कह कर सामायिक व्रत लेने की इच्छा प्रकट कर के उस पर अनुमति माँगी जाती है और "सामायिके ठाउं" कह कर सामायिक व्रत ग्रहण करने की अनुमति माँगी जाती है । प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्ति करने से पहले बार बार आदेश लेने का मतलब सिर्फ आज्ञा-पालन गुण का अभ्यास डालना और स्वच्छन्दता का अभ्यास छोड़ना है ।

खड़ा हो कर दोनों हाथ जोड़ कर एक नवकार पढ़ कर 'इच्छाकारि भगवन् पसायकरी सामायिक-दण्ड उच्चरावो जी' कहे। पीछे 'करेमि भंते' उच्चरे या उच्चरवावे। फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० बेसणे संदिसाहुं[1]? इच्छं' फिर 'इच्छामि खमा० इच्छा० बेसणे ठाउं? इच्छं' फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं[2]? इच्छं' फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० सज्झाय करूं इच्छं।' पीछे तीन नवकार पढ़ कर कम से कम दो घड़ी-पर्यन्त धर्मध्यान, स्वाध्याय आदि करे।

सामायिक पारने की विधि।

खमासमण दे कर इरियावहियं से एक लोगस्स पढ़ने तक की क्रिया सामायिक लेने की तरह करे। पीछे 'इच्छामि खमा०, मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे। बाद 'इच्छा-

---

१—"बेसणे संदिसाहुं" कह कर बठने की इच्छा प्रकट की जाती है और उस पर अनुमति माँगी जाती है। "बेसणे ठाउं" कह कर आसन ग्रहण करने की अनुमति माँगी जाता है।

आसन ग्रहण करने का उद्देश्य स्थिर आसन जमाना है, कि जिस से निराकुलता-पूर्वक सज्झाय, ध्यान आदि किया जा सके।

२—"सज्झाय संदिसाहुं" कह कर सज्झाय की चाह प्रगट कर के इस पर अनुमति माँगी जाती है और "सज्झाये ठाउं" कह कर सज्झाय में प्रवृत्त होने की अनुमति माँगी जाती है।

स्वाध्याय ही सामायिक व्रत का प्राण है। क्यों कि इस के द्वारा ही समभाव पैदा किया जा सकता और रखा जा सकता है तथा सहज सुख के अक्षय निधान की झाँकी और उस के पाने के मार्ग, स्वाध्याय के द्वारा ही मालूम किये जा सकते हैं।

मि खमा०, इच्छा०, सामायिअं पारेमि, यथाशक्ति"[1]। फिर "इच्छामि खमा०, इच्छा०, सामायिअं पारिअं, तहत्ति" इस प्रकार कह कर दाहिने हाथ को चरवले पर या आसन पर रखे और मस्तक झुका कर एक नवकार मन्त्र पढ़ के "सामायिअ वयजुत्तो" सूत्र पढ़े। पीछे दाहिने हाथ को सीधा स्थापनाचार्य[2] की तरफ कर के एक नवकार पढ़े।

दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि।

प्रथम सामायिक लेवे। पीछे मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त्त-वन्दन—सुगुरु-वन्दन करे; पश्चात् यथाशक्ति पच्चक्खाण करे। [तिविहाहार उपवास हो तो मुहपत्ति का पडिलेहण करना, द्वादशावर्त्त-वन्दन नहीं करना। चउव्विहाहार उपवास हो तो पडिलेहण या द्वादशावर्त्त-वन्दन कुछ भी नहीं करना।] पीछे 'इच्छामि खमा०, इच्छा०, चैत्य-वन्दन करूं? इच्छं' कह कर चैत्य-वन्दन[3] करे।

१—यदि गुरु महाराज के समक्ष यह विधि की जाय तो 'पुणोवि कायव्वं' इतना गुरु के कहने के बाद 'यथाशक्ति' और दूसरे आदेश में 'आयारो न मोत्तव्वो' इतना कहे बाद 'तहत्ति' कहना चाहिए।

२—यदि स्थापनाचार्य, माला, पुस्तक वगैरह से नये स्थापन किये हों तो इस की जरूरत है, अन्यथा नहीं।

३—इस के द्वारा वीतराग देव को नमस्कार किया जाता है जो परम मङ्गल-रूप है। इस कारण प्रतिक्रमण जैसी भावपूर्ण क्रिया से पहले चित्त शुद्धि के लिये चैत्यवन्दन करना अति-आवश्यक है। संपूर्ण चैत्यवन्दन में बारह अधिकार हैं। वे इस प्रकारः—

'नमुत्थुणं' से 'जिय भयाणं' तक पहला अधिकार है। 'जे अइया०' गाथा दूसरा अधिकार है। इस से भावी और भूत तीर्थङ्करों को वन्दना

पीछे "जं किंचि" और "नमुत्थुणं" कह कर खड़े हो कर "अरिहंत चेइआणं, अन्नत्थ ऊससिएणं" कह कर एक नवकार का काउस्सग्ग करे। कायोत्सर्ग पार के "नमोऽर्हत्०" पूर्वक प्रथम थुइ कहे। बाद प्रगट लोगस्स कह के "सव्वलोए, अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थ" कहे। एक नवकार का कायोत्सर्ग पार कर दूसरी थुइ कहे। फिर "पुक्खरवरदी" कह कर "सुअस्स भगवओ, करेमि काउस्सग्गं, वंदणवत्तिआए, अन्नत्थ" कहने के बाद एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। फिर उसे पार के तीसरी थुइ कह कर "सिद्धाणं बुद्धाणं, वेयावच्चगराणं, अन्नत्थ ऊससिएणं" का पाठ कह कर एक नवकार का कायोत्सर्ग पार के "नमोऽर्हत्-

की जाती है, इस लिये यह द्रव्य-अरिहन्तों का वन्दन है। 'अरिहंत-चेइयाणं०' तीसरा अधिकार है। इस के द्वारा स्थापना-जिन को वन्दन किया जाता है। 'लोगस्स' चौथा अधिकार है। यह नाम-जिन की स्तुति है। 'सव्वलोए०' पाँचवाँ अधिकार है। इस से सब स्थापना-जिनों को वन्दना की जाती है। 'पुक्खरवर' सूत्र की पहली गाथा छठा अधिकार है। इस का उद्देश्य वर्तमान तीर्थङ्करों को नमस्कार करना है। 'तम-तिमिर०' से ले कर 'सिद्धे भो पयओ०' तक तीन गाथाओं का सातवाँ अधिकार है, जो श्रुतज्ञान की स्तुतिरूप है। 'सिद्धाणं बुद्धाणं' इस आठवें अधिकार के द्वारा सब सिद्धों को नमस्कार किया जाता है, 'जो देवाण०' इत्यादि दो गाथाओं का नववाँ अधिकार है। इस का उद्देश्य वर्तमान तीर्थाधिपति भगवान् महावीर को वन्दन करना है। 'उज्जिंत' इस दसवें अधिकार से श्रीनेमिनाथ भगवान् की स्तुति की जाती है। 'चत्तारि अट्ठ०' इस ग्यारहवें अधिकार में चौवीस जिनेश्वरों से प्रार्थना की जाती है। 'वेयावच्चगराणं' इस बारहवें अधिकार के द्वारा सम्यक्त्वी देवताओं का स्मरण किया जाता है। [देववन्दन-भाष्य, गा० ४३-४५]।

सिद्धा" पूर्वक चौथी थुइ कहे । पीछे बैठ कर "नमुत्थुणं" कहे बाद चार खमासमण देवे.—(१) इच्छामि खमा० "भगवानहं", (२) इच्छामि खमा० "आचार्यहं", (३) इच्छामि खमा० "उपाध्यायहं", (४) इच्छामि खमा० "सर्वसाधुहं" । इस प्रकार चार खमासमण देने के बाद "इच्छाकारि सर्वश्रावक वांदुं" कह कर "इच्छा०, देवसिय पडिक्कमणे ठाउं ? इच्छं' कह कर दाहिने हाथ को चरवले वा आसन पर रख कर बांयां हाथ मुहपत्ति-सहित मुख के आगे रख कर सिर झुका "सव्वस्सवि देवसिअ[2]" का पाठ पढ़े ।[1] बाद खड़ा हो कर "करेमि भंते[3], इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ ऊससि०" कह कर आचार की आठ गाथाओं [जो गाथाएँ न आती हों तो आठ नवकार] का कायोत्सर्ग कर के प्रकट लो-गस्स पढ़े । बाद बैठ कर तीसरे आवश्यक की मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त्त-वन्दना देने के बाद खड़े खड़े "इच्छाकारेण

१—इस प्रकार की सब क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य गुरु के प्रति विनयभाव प्रगट करना है, जो कि सरलता का सूचक है ।

२—इस के द्वारा दैनिक पाप का सामान्यरूप से आलोचन किया जाता है; यही प्रतिक्रमण का बीजक है, क्यों कि इसी सूत्र से प्रतिक्रमण का आरम्भ होता है ।

३—यहाँ से 'सामायिक' नामक प्रथम आवश्यक का आरम्भ होता है ।

४—इस में पाँच आचारों का स्मरण किया जाता है, जिस से कि उन के संबन्ध का कर्तव्य मालूम हो और उन की विशेष शुद्धि हो ।

५—यह 'चउवीसत्थो' नामक दूसरा आवश्यक है ।

६—यह 'वन्दन' नामक तीसरा आवश्यक है ।

संदिसह भगवन् देवसिअं आलोउं[1]? इच्छं । आलोएमि जो मे देवसिओ०" कहे बाद "सात लाख, अठारह पापस्थानक" कहे । पीछे "सव्वस्सवि देवसिय" पढ़ कर नीचे बैठे । दाहिना घुटना खड़ा कर के "एक नवकार, करेमि भंते, इच्छामि पडिकमिउं जो मे देवसिओ अइयारो" इत्यादि पढ़ कर "वंदित्तु सूत्र" पढ़े । बाद द्वादशावर्त-वन्दना देवे । पीछे 'इच्छा०, अब्भुट्ठिओहं, अब्भिंतर' इत्यादि सूत्र जमीन के साथ सिर लगा कर पढ़े । बाद द्वादशावर्त-वन्दना दे कर खड़े खड़े "आयरियउवज्झाए, करेमि

१—यहाँ से 'प्रतिक्रमण' नामक चौथा आवश्यक शुरू होता है जो 'अब्भुट्ठिओहं' तक चलता है । इतने भाग में खास कर पापों की आलोचना का विधान है।

२—वंदित्तु सूत्र के या अन्य सूत्र के पढ़ने के समय तथा कायोत्सर्ग के समय जुदे जुदे आसनों का विधान है । सो इस उद्देश्य से कि एक आसन पर बहुत देर तक बैठे रहने से व्याकुलता न हो । वीरासन, उत्कटासन आदि ऐसे आसन हैं कि जिन से आरोग्यरक्षा होने के उपरान्त निद्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट हो कर चित्त-वृत्ति सात्त्विक बनी रहती है और इस से उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम बने रहते हैं ।

३—यहाँ से 'काउस्सग्ग' नामक पाँचवाँ आवश्यक शुरू होता है, जो क्षेत्रदेवता के काउस्सग्ग तक चलता है । इस में पाँच काउस्सग्ग आते हैं । जिन में पहले, दूसरे और तीसरे का उद्देश्य क्रमशः चारित्राचार, दर्शनाचार और ज्ञानाचार की शुद्धि करना है । चौथे का उद्देश्य श्रुतदेवता की और पाँचवें का उद्देश्य क्षेत्रदेवता की आराधना करना है ।

काउस्सग्ग का अनुष्ठान समाधि का एक साधन है । इस से स्थिरता, धारणा और संकल्पबल की वृद्धि होती है जो आत्मिक-विशुद्धि में तथा ... को अपने अनुकूल बनाने में उपयोगी है ।

भंते, इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ०" कह कर दो लोगस्स का कायोत्सर्ग कर के प्रगट लोगस्स पढ़े। पीछे 'सव्वलोए, अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थ०' कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। बाद "पुक्खरवरदीवड्ढे, सुअस्स भगवओ, करेमि काउस्सग्गं, वंदणवत्तिआए, अन्नत्थ" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। बाद "सिद्धाण बुद्धाणं" कह कर 'सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' पढ़ कर एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पार कर 'नमोऽर्हत्' कह कर 'सुअदेवया' की थुइ कहे। पीछे 'खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ' पढ़ कर एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। पार के 'नमोऽर्हत्' कह कर 'खित्तदेवया' की थुइ कहे। बाद एक नवकार पढ़ के बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहण कर द्वादशावर्त्त-वन्दना देवे। बाद 'सामायिक, चउव्वीसत्थो, वन्दन, पडिक्कमण, काउस्सग्गं, पच्चक्खाण किया है जी' ऐसा कहे। पीछे बैठ कर "इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०" कह कर "नमोस्तु वर्धमानाय" पढ़े। [स्त्रीवर्ग 'नमोस्तु

१—यहाँ से 'पच्चक्खाण' नामक छठे आवश्यक का आरम्भ होता है, जो पच्चक्खाण लेने तक में पूर्ण हो जाता है। पच्चक्खाण से तप-आचार की और संपूर्ण प्रतिक्रमण करने से वीर्याचार की शुद्धि होती है।

२—यहाँ से देव-गुरु-वन्दन शुरू होता है जो आवश्यकरूप माङ्गलिक क्रिया की समाप्ति हो जाने पर किया जाता है।

संक्षेप में, आवश्यक क्रिया के उद्देश्य, समभाव रखना; महान् पुरुषों का चिन्तन व गुण-कीर्तन करना, विनय, आज्ञा-पालन आदि गुणों का विकास करना; अपने दोषों को याद कर फिर से उन्हें न करने के लिये सावधान हो

वर्धमानार्य" के स्थान में 'संसारदावा' की तीन थुइ पढ़े।] पीछे नमुत्थुणं कहे। बाद कम से कम पाँच गाथा का स्तवन पढ़े। बाद "वरकनकशङ्ख" कह कर इच्छामि-पूर्वक 'भगवानहं' आदि चार खमासमण देवे। फिर दाहिने हाथ को चरवले या या आसन पर रख कर सिर झुका कर "अड्ढाइज्जेसु" पढ़े। फिर खड़ा हो कर "इच्छा० देवसिअपायच्छित्तविसोहणत्थं काउस्सग करुं ? इच्छं, अन्नत्थ" कह कर चार लोगस्स का काउस्सग करे। पार के प्रगट लोगस्स पढ़ कर "इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं ? इच्छं, इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करूं ? इच्छं" कहे। बाद एक नवकार-पूर्वक सज्झाय कहे। अन्त में एक नवकार पढ़ कर पीछे "इच्छामि० इच्छा० दुक्खक्खओ कम्मक्खओ निमित्तं काउस्सग करुं ? इच्छं, अन्नत्थ" पढ़ कर संपूर्ण चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। पार कर "नमोऽर्हत्" कह कर शान्ति पढ़े। पीछे प्रकट लोगस्स कहे। बाद सामायिक पारना हो तो "इरियावहियं, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ" पढ़ कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। पार के प्रगट लोगस्स कहे। पीछे बैठ कर "चउक्कसाय, नमुत्थुणं, जावंति चेइआइं, इच्छामि खमासमणो, जावंत केवि साहू, नमोऽर्हत्, उवसग्गहरं, जय वीयराय" कह कर "इच्छामि० इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं" कह कर पूर्वोक्त सामायिक पारने के विधि से सामायिक पारे।

जाना; समाधि का थोड़ा थोड़ा अभ्यास डालना और त्याग द्वारा संतोष धारण करना इत्यादि है।

रात्रिक-प्रतिक्रमण की विधि ।

पहले सामायिक लेवे । पीछे "इच्छामि०, इच्छा०, कुसुमिण-दुसुमिण-उड्डावणी-राइयपायाच्छित्त-विसोहणत्थं काउस्सग्गं करुं ? इच्छं, कुसुमिण-दुसुमिण-उड्डावणी-राइयपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०" पढ़ कर चार लोगस्स का काउस्सग पार के प्रकट लोगस्स कह कर "इच्छामि०, इच्छा०, चैत्यवन्दन करुं ? इच्छं," जगचिन्तामणि-चैत्यवन्दन, जय वीयराय तक कर के चार खमासमण अर्थात् "इच्छामि० भगवानहं, इच्छामि० आचार्यहं, इच्छामि० उपाध्यायहं, इच्छामि० सर्वसाधुहं" कह कर "इच्छामि०, इच्छा०, सज्झाय संदिसाहुं ? इच्छं । इच्छामि०, इच्छा०, सज्झाय करुं ? इच्छं" कह कर भरहेसर की सज्झाय कहे । पीछे "इच्छामि०, इच्छा०, राइयपडिकमणे ठाउं ? इच्छं" कह कर दाहिने हाथ को चरवले पर या आसन पर रख कर "सव्वस्सवि राइयदुच्चिंतिय०" इत्यादि पाठ कहे । बाद 'नमुत्थुणं' कह कर खड़ा हो के "करेमि भंते०, इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के प्रगट "लोगस्स, सव्वलोए०, अन्नत्थ०" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के "पुक्खरवरदीवड्ढे०, सुअस्स भगवओ०, वंदणवत्तिआए०, अन्नत्थ०" पढ़ कर अतिचार की आठ गाथाओं का कायोत्सर्ग पार के "सिद्धाणं बुद्धाणं०" कहे ।

१-यह काउस्सग्ग रात्रि में कुस्वप्न से लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये किया जाता है ।

पीछे बैठ कर तीसरे आवश्यक की मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त-वन्दना देवे। बाद "इच्छा० राइयं आलोउ? इच्छं, आलोएमि जो मे राइओ०" पढ़ कर सात लाख, अठारह पापस्थान की आलोचना कर "सव्वस्स वि राइय०" कह के बैठ कर दाहिने घुटने को खड़ा कर "एक नवकार, करेमि भंते०, इच्छामि० पडिक्कमिउं, जो मे राइओ०" कह कर वंदिता सूत्र पढ़े। बाद द्वादशावर्त-वन्दना दे कर "इच्छा० अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतरराइयं खामेउं? इच्छं, खामेमि राइय०" कहे। बाद द्वादशावर्त-वन्दना कर के खड़े खड़े "आयरिअउवज्झाए०, करेमि भंते०, इच्छामि ठामि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०" कह कर सोलह नवकार का कायोत्सर्ग पार के प्रकट लोगस्स पढ़ कर बैठ के मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त-वन्दना कर के तीर्थ वन्दन पढ़े। फिर पच्चक्खाण कर के "सामायिक, चउवीसत्थो, वन्दना, पडिक्कमण, काउस्सग्ग, पच्चक्खाण किया है जी" कह कर बैठ के "इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाण, नमोऽर्हत्०" पढ कर "विशाललोचनदल०" पढ़े। फिर नमुत्थुण०, अरिहंत चेइयाण०, अन्नत्थ० और एक नवकार का काउस्सग्ग पार के 'कल्लाणकंदं' की प्रथम थुइ कहे। बाद लोगस्स आदि पढ़ कर क्रम से चारों थुइ के समाप्त होने पर बैठ के नमुत्थुण पढ़ कर इच्छामि०पूर्वक "भगवानहं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं" एव चार खमासमण दे कर दाहिने हाथ को चरवले या आसन पर रख के 'अड्ढाज्जेसु' पढ़े। बाद इच्छामि०पूर्वक सीमंधरस्वामी का चैत्य-

वन्दन 'जय वीयराय'-पर्यन्त करे। बाद अरिहंत चेइयाणं० और एक नवकार का काउस्सग्ग पार के नमोऽर्हत्० कह कर सीमंधर-स्वामी की थुई कहे । फिर सिद्धाचलजी का चैत्य-वन्दन भी इसी प्रकार करे। सिद्धाचल जी का चैत्य-वन्दन, स्तवन और थुइ कहे बाद सामायिक पारने की विधि से सामायिक पारे ।

पौषध लेने की विधि ।

प्रथम खमासमणपूर्वक 'इरियावहिय' पडिक्कम कर 'चंदेसु निम्मलयरा' तक एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर के प्रकट लोगस्स कहे । पीछे 'इच्छामि०, इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पोसह मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे । बाद इच्छामि०, इच्छा० पोसह संदिसाहुं ? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० पोसह ठाउं ? इच्छं' कह कर दो हाथ जोड़ एक नवकार पढ़ के 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी पोसहदंड उच्चरावो जी' कहे। पीछे पोसह-दंड उच्चरे या उच्चरवावे । पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कहे। पीछे मुहपत्ति पडिलेहन कर "इच्छामि० इच्छा० सामायिक संदिसाहुं ? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सामायिक ठाउं ? इच्छं' कहे। पीछे दो हाथ जोड़ एक नवकार गिन के "इच्छकारि, भगवन् पसायकरी सामायिकदंड उच्चरावोजी" कह कर 'करेमि भंते सामाइयं' का पाठ पढ़े, जिस में 'जाव नियमं' की जगह 'जाव पोसहं' कहे । पीछे इच्छामि०, इच्छा० बेसणं संदिसाहुं ? इच्छं' ; इच्छामि०, इच्छा० बेसणे ठाउं ?

इच्छं;' इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं ? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं' कहे। पीछे दो हाथ जोड़ कर तीन नवकार गिने। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० बहुवेलं संदिसाहुं ? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० बहुवेलं करेमि ? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं? इच्छं' कहे। पीछे मुहपत्ति, चरवला, आसन, कंदोरा (सूत की त्रागड़ी) और धोती, ये पाँच चीजें पडिलेहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छकारि भगवन् पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावो जी ?" ऐसा कह कर ब्रह्मचर्य-व्रतधारी किसी बड़े के उत्तरासन की पडिलेहना करे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० उपधि संदिसाहुं ? इच्छं;' इच्छामि०, इच्छा० उपधि पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर प्रथम पडिलेहन से बाकी रहे हुए उत्तरासन (दुपट्टा), मात्रा (पेशाब) करने जाने का वस्त्र और रात्रि-पौषध करना हो तो लोई, कम्बल वगैरह वस्त्र पडिलेहे। पीछे डंडासण ले कर जगह पडिलेहे। कूड़ा कचरा निकाले और उस को देख-शोध यथायोग्य स्थान में देख के "अणुजाणह जस्सुग्गहो" कह के परठ देवे। परठने के बाद तीन बार "वोसिरे, वोसिरे, वोसिरे" कहे। बाद इरियावहियं पडिक्कमे। पीछे देव-वन्दन करे।

देव-वन्दन की विधि।

इच्छामि०, इच्छा०, इरियावहियं०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०, एक लोगस्स का काउस्सग्ग (प्रगट लोगस्स) कह के उत्तरासन डाल कर

'इच्छामि०, इच्छा० चैत्य-वन्दन करुं? इच्छं;चैत्य-वन्दन कर जं किंचि नमुत्थुणं कह के 'आभवमखंडा' तक 'जय वीयराय' कहे । पीछे इच्छामि० दे कर दूसरी वार चैत्य-वन्दन, जं किंचि, नमुत्थुणं, अरिहंत चेइआणं०, अन्नत्थ, एक नवकार का काउस्सग्ग 'नमो अरिहंताणं' कह कर पार के "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः" कह कर पहली थुइ पढ़े । पीछे 'लोगस्स० सव्वलोए० एक नवकार का काउस्सग्ग—दूसरी थुइ; पीछे 'पुक्खरवरदीवड्ढे सुअस्स भगवओ० एक नवकार का काउस्सग्ग-तीसरी थुइ; पीछे सिद्धाणं बुद्धाणं० वेयावच्चगराणं० अन्नत्थ०' एक नवकार का काउस्सग्ग--नमोऽर्हत्--चौथी थुइ कहे। पीछे बैठ के "नमुत्थुणं०, अरिहंत चेइआणं०" इत्यादि पूर्वोक्त रीति से दूसरी वार चार थुइ पढ़े । पीछे 'नमुत्थुणं०, जावंति०, इच्छामि०, जावंत केवि साहू०, नमोऽर्हत्०, उवसग्गहरं० अथवा और कोई स्तोत्र-स्तवन पढ़ कर 'आभवमखंडा' तक जय वीयराय कहे। पीछे इच्छामि० दे कर तीसरी वार चैत्य-वन्दन कर के जं किंचि० नमुत्थुणं० कह कर संपूर्ण जय वीयराय कहे। पीछे 'विधि करते हुए कोई अविधि हुई हो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' ऐसा कहे ।सुबह (दो पहर और सन्ध्या के में नहीं) के देव-वन्दन के अन्त में 'इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं और एक नवकार पढ़ के खड़े घुटने बैठ कर 'मन्नह जिणाणं' की सज्झाय कहे।

पउग-पोरिसी की विधि ।

जब छह घड़ी दिन चढ़े तब पउग-पोरिसी पढ़े। 'इच्छामि०,

इच्छाकारेण०, बहुपडिपुण्णा पोरिसी? इच्छामि०, इरियावहियं०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ० और एक लोगस्स का काउस्सग; प्रकट लोगस्स०, इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं? इच्छं, कह कर मुहपत्ति पडिलेहे।

पीछे गुरु महाराज हो तो उन को वन्दना कर के पच्चक्खाण करे। पीछे सब साधुओं को वन्दना कर के ज्ञान-ध्यान पठन-पाठन आदि शुभ क्रिया में तत्पर रहे। लघुशङ्का (पेशाव) वगैरह की वाधा टालने को जाना हो तो प्रथम पेशाव करने के निमित्त रखा हुआ कपड़ा पहन कर शुद्ध भूमि को देख कर "अणुजाणह जस्सुग्गहो" कह कर मौनपने वाधा टाले। पीछे तीन वख्त "वोसिरे" कह कर अपने स्थान पर आ कर प्रासुक (गरम) पानी से हाथ धो कर धोती बदल कर स्थापनाचार्यजी के सम्मुख इच्छामि० दे कर इरियावहियं० पडिकमे। पेशाव वगैरह की शुचि के निमित्त गरम पानी वगैरह का प्रथम से ही किसी को कह कर वन्दोवस्त कर रखे।

पौषध लेने के पीछे श्रीजिनमन्दिर में दर्शन करने को जरूर जाना चाहिये। इस वास्ते उपाश्रय (पौषधशाला) में से निकलते हुए तीन बार 'आवस्सहि' कह के मौनपने 'इरियासमिति' रखते हुए श्रीजिनमन्दिर में जावे। वहाँ तीन बार 'निसिहि' कह कर के मन्दिर जी के प्रथम द्वार में प्रवेश करे। मूलनायकजी के सम्मुख हो कर दूर से प्रणाम कर के तीन प्रदक्षिणा देवे। पीछे रङ्गमण्डप में प्रवेश कर के दर्शन, स्तुति

कर के इच्छामि० दे कर इरियावहिय० पडिक्कम के तीन खमासमण दे कर चैत्य-वन्दन करे । श्रीजिनमन्दिर से बाहर निकलते हुए तीन बार 'आवस्सहि' कह कर निकले । पौषध-शाला में तीन बार 'निसिही' कह कर प्रवेश करे । पीछे इरियावहिय० पडिक्कमे ।

चौमासे के दिन हों तो मध्याह्न के देव-वन्दन से पहले ही मकान की दूसरी बार पडिलेहणा करे । (चौमासे में मकान तीन बार पडिलेहना चाहिये) इरियावहिय० पडिक्कम के डंडासण से जगह पडिलेहके विधिसहित कूड़े-कजरे को परठव के इरियावहिय० पडिक्कमे । पीछे मध्याह्न का देव-वन्दन पूर्वोक्त विधि से करे ।

बाद जिस का तिविहाहार व्रत हो और पानी पीना हो वह तथा जिस ने आयंबिल, निवि अथवा एकासना किया हो वह पच्चक्खाण पारे ।

पच्चक्खाण पारने की विधि ।

इच्छामि०, इरियावहिय० प्रकट लोगस्स कह के 'इच्छामि०, इच्छा० चैत्य-वन्दन करुं ? इच्छं' कह के जगचिंतामणि का चैत्य० सम्पूर्ण जय वीयराय तक करे । पीछे 'इच्छामि०' इच्छा० सज्झाय करुं ? इच्छं' कह के एक नवकार पढ़ कर 'मन्नह जिणाणं' की सज्झाय करे । पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे । पीछे 'इच्छामि०' इच्छा० पच्चक्खाणं

पारेमि ? यथाशक्ति; इच्छामि०, इच्छा० पच्चक्खाणं पारियं, तहत्ति कहे । पीछे दाहिना हाथ चरवले पर रख कर एक नमस्कार मन्त्र पढ़ कर जो पच्चक्खाण किया हो, उस का नाम ले कर नीचे लिखे अनुसार पढ़ेः—

" उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पोरिसिं साढपोरिसिं पुरिमड्ढं गंठिसहियं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण किया चउव्विह आहार; आयंबिल निवि एकासना किया तिविह आहार; पच्चक्खाण फासिअं पालिअं सोहिअं तीरिअं किट्टिअं आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । पीछे एक नमस्कार मन्त्र पढ़े ।

तिविहाहार व्रत वाला इस तरह कहेः—"सूरे उग्गए उपवास किया तिविह आहार पोरिसिं साढपोरिसिं पुरिमड्ढं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण किया, फासिअं पालिअं सोहिअं तीरिअं किट्टिअं आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।" पीछे एक नमस्कार मन्त्र पढ़े ।

पानी पीने वाला दूसरे से माँगा हुआ अचित्त जल आसन पर बैठ कर पीवे । जिस पात्र से पानी पीवे उस पात्र को कपड़े से पोंछ कर खुश्क कर देवे । पानी का भाजन खुला न रक्खे ।

जिस को आयंबिल, निवि अथवा एकासना करना हो वह पोसह लेने से पहले ही अपने पिता पुत्र या भाई वगैरह घर के किसी आदमी को मालूम कर देवे ।

जब घर का आदमी पौषधशाला में भोजन ले आवे तब एकान्त में जगह पडिलेह के आसन विछाकर चौकड़ी लगा कर बैठ के इरियावहिय पडिक्कम के नवकार पढ़ कर मौनपने भोजन करे। बाद मुख शुद्धि कर के दिवसचरिम तिविहाहार का पच्चक्खाण करे। पीछे इरियावहिय पडिक्कम के जयं वीयराय-पर्यन्त जगचिंतामणि का चैत्य-वन्दन करे।

जब छह घड़ी दिन बाकी रहे तब स्थापनाचार्यजी के सम्मुख दूसरी बार की पडिलेहना करे। उस की विधि इस प्रकार है:—

इच्छामि०, इच्छा०, बहुपडिपुण्णा पोरिसी, कह कर इच्छामि०, इच्छा० इरियावहिय एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के प्रगट लोगस्स कहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० गमणागमणे आलोउं ? इच्छं" कह के " इरियासमिति, भासासमिति, एसणा-समिति, आदान-भंडमत्त-निक्खेवणासमिति, पारिट्ठावणिया-समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, एवं पञ्च समिति, तीन गुप्ति, ये आठ प्रवचनमाता श्रावक धर्म सामायिक पोसह मैं अच्छी तरह पाली नहीं, खण्डना विराधना हुई हो वह सब मन वचन काया से मिच्छा मि दुक्कडं" पढ़े। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं ? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० पौषधशाला प्रमार्जु ? इच्छं" कह कर उपवास किया हो तो मुहपत्ति, आसन, चरवला ये तीन पडिलेहे। और जो खाया हो तो धोती और कंदोरा मिला कर पाँच वस्तु पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावोजी' ऐसा कह कर जो बड़ा हो

उस का कोई एक वस्त्र पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह कर 'इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं' कह एक नवकारपूर्वक मन्नह जिणाणं की सज्झाय करे। पीछे खाया हो तो द्वादशावर्त-वन्दना दे कर पाणहार का पच्चक्खाण करे।

यदि तिविहाहार उपवास किया हो तो 'इच्छामि० 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी पच्चक्खाण का आदेश दीजिए जी' ऐसा कह कर पाणहार का पच्चक्खाण करे[1]। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा०, उपधि संदिसाहुं? इच्छं; इच्छामि० इच्छा०, उपधि पडिलेहुं? इच्छं' कह कर बाकी के सब वस्त्रों की पडिलेहणा करे। रात्रि-पोसह करने वाला पहले कम्बल (बिछौने का आसन) पडिलेहे। पीछे पूर्वोक्त विधि से देव-वन्दन करे।

बाद पडिक्कमण का समय होने पर पडिक्कमण करे। इरियावहिय पडिक्कमके चैत्य-वन्दन करे, जिस में सात लाख और अठारह पापस्थान के ठिकाने 'गमणागमणे' और 'करेमि भंते' में 'जाव नियमं' के ठिकाने 'जाव पोसहं' कहे।

यदि दिन का ही पौषध हो तो पडिक्कम किये बाद नीचे लिखी विधि से पौषध पारे।

1-चउव्विहाहार-उपवास किया हो तो इस वक्त पच्चक्खाण करने की जरूरत नहीं है; परन्तु सुबह तिविहाहार का पच्चक्खाण किया हो और पानी न पिया हो तो इस वक्त चउव्विहाहार-उपवास का पच्चक्खाण करे।

पौषध पारने की विधि ।

इच्छामि०•इच्छा० इरिया० एक लोगस्स का काउस्सग पार कर प्रकट लोगस्स कह के बैठ कर 'चउक्कसाय०, नमुत्थुणं०, जावंति०, जावंत०, उवसग्गहरं०, जय वीयराय०' संपूर्ण पढ़े। बाद 'इच्छामि०, इच्छा०, मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० पोसहं पारेमि? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा०पोसहो पारिओ, इच्छं' कह के एक नवकार पढ़ कर हाथ नीचे रख कर 'सागरचंदो कामो' इत्यादि पौषध पारने का पाठ पढ़े। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० सामाइअं पारेमि? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सामाइअं पारिअं, इच्छं' कह कर सामाइय वयजुत्तो पढ़े।

यदि रात्रि-पौषध हो तो पडिक्कमण करने के बाद संथारा पोरिसी के समय तक स्वाध्याय, ध्यान, धर्म-चर्चा वगैरह करे। पीछे संथारा पोरिसी पढ़ावे।

संथारा पोरिसी पढ़ाने की विधि।

'इच्छामि०, इच्छा० बहुपडिपुण्णा पोरिसी, तहत्ति; इच्छामि०, इच्छा० इरिया०' कह के एक लोगस्स का काउस्सग पार के प्रकट लोगस्स कह के 'इच्छामि०, इच्छा० बहुपडिपुण्णा पोरिसी, राइयसंथारए ठामि? इच्छं' कहे। पीछे "चउक्कसाय नमुत्थुणं, जावंति, जावंत, उवसग्गहरं, जय वीयराय" तक

सम्पूर्ण पढ़ कर 'इच्छामि० इच्छा० राइयसंथारा सूत्र पढ़ने के निमित्त मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह के 'निसीहि, निसीहि' इत्यादि संथारा पोरिसी का पाठ पढ़े।

जिस ने आठ पहर का पोसह लिया हो या जिस ने केवल रात्रि-पौषध किया हो वह सायंकाल के देव-वन्दन के पीछे कुण्डल (कान में डालने के लिये रुई), डंडासन और रात्रि की शुचि के लिये चूना डाला हुआ अचित्त पानी याचना कर के लेवे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० थंडिल पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर नीचे लिखे अनुसार चौवीस माँडले करे।

१. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहिआसे।
२. आघाडे आसन्ने पासवणे अणहिआसे।
३. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहिआसे।
४. आघाडे मज्झे पासवणे अणहिआसे।
५. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अणहिआसे।
६. आघाडे दूरे पासवणे अणहिआसे।
७. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहिआसे।
८. आघाडे आसन्ने पासवणे अहिआसे।
९. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहिआसे।
१०. आघाडे मज्झे पासवडे अहिआसे।
११. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहिआसे।
१२. आघाडे दूरे पासवणे अहिआसे।
१३. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहिआसे।

१४. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अणहिआसे ।
१५. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहिआसे ।
१६. अणाघाडे मज्झे पासवणे अणहिआसे ।
१७. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अणहिआसे ।
१८. अणाघाडे दूरे पासवणे अणहिआसे ।
१९. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२०. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अहिआसे ।
२१. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२२. अणाघाडे मज्झे पासवणे अहिआसे ।
२३. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२४. अणाघाडे दूरे पासवणे अहिआसे ।

सिर्फ रात्रि के चार पहर का पोसह लेने की विधि ।

इच्छामि० इच्छा० से लगा कर यावत् बहुवेलं करेमि-पर्यन्त सुबह के पोसह लेने की विधि के अनुसार विधि करे । उस के बाद शाम के पडिलेहण में इच्छामि० दे कर 'पाडिलेहण करुं?' इस आदेश से ले कर 'उपधि पडिलेहुं?' इस आदेश-पर्यन्त पूर्वोक्त विधि करे । पीछे देव वाँदे, माँडले करे और पडिक्कमणा करे ।

सुबह चार पहर का पोसह लिया हो और पीछे आठ पहर का पोसह लेने का विचार हो तो शाम की पडिलेहणा करते समय इरियावहिय पडिक्कम के 'इच्छामि० इच्छा० गमणागमणे' आलोच कर 'इरियावहियं' से लगा कर 'बहुवेलं करेमि' इस आदेश-पर्यन्त सुबह के पोसह लेने की विधि के अनुसार विधि करे; 'सज्झाय करुं?'

इस के स्थान में 'सज्झाय में हूँ' ऐसा बोले और तीन नवकार के बदले एक नवकार गिने। पीछे शाम के पडिलेहण में इच्छामि० दे कर 'पडिलेहण करुं?' इस आदेश से क्षमा कर विधिपूर्वक पडिलेहण करे। बाद देव-वन्दन, माँडले और प्रतिक्रमण भी पूर्ववत् करे।

पिछली रात प्रातः उठ कर नवकार मन्त्र पढ़ के इरियावहिय कर के कुसुमिण-दुसुमिण का कायोत्सर्ग कर के प्रतिक्रमण करे। पीछे पडिलेहण करे। उस की विधि इस प्रकार है:—

इरियावहिय कर के 'इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करूं? इच्छं' कह कर पूर्वोक्त पाँच वस्तु पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहणा पडिलेहावोजी' कह कर जो अपने से बड़ा हो उस का वस्त्र पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह कर 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि संदिसाहुं? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० उपधि पडिलेहुं? इच्छं' कह कर बाकी के सब वस्त्र पडिलेहे। बाद इरियावहिय कर के पूर्वोक्त रीति से कूड़ा निकाले और परठवे। पीछे देव-वन्दन कर सज्झाय कह कर माँगी हुई चीजें उस वक्त पौषध-रहित गृहस्थ को सिपुर्द करे। बाद पोसह पारे।

आठ पहर के तथा रात्रि के पौषध पारने की विधि।

इच्छामि०, इच्छा० इरिया०, एक लोगस्स का काउस्सग्ग पार के प्रकट लोगस्स कह कर 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं?

इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे । बाद 'इच्छामि०, इच्छा० पोसहं पारेमि ? यथाशक्ति; इच्छामि०, इच्छा० पोसहो पारिओ, तहत्ति' कह कर हाथ नीचे रख कर 'सागरचंदो' इत्यादि पोसह पारने की गाथा पढ़े । बाद 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह के 'इच्छामि०, इच्छा० सामाइयं पारेमि' इत्यादि पूर्वोक्त विधि से सामायिक पारे ।

चैत्य-वन्दन-स्तवनादि ।

[चैत्य-वन्दन ।]

सकलकुशलवल्ली पुष्करावर्तमेघो,
दुरिततिमिरभानुः कल्पवृक्षोपमानः ।
भवजलनिधिपोतः सर्वसंपत्तिहेतुः,
स भवतु सततं वः श्रेयसे शान्तिनाथः ॥१॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

सीमन्धर परमातमा, शिव-सुखना दाता ।
पुक्खलवइ विजये-जयो, सर्व जीवना त्राता ॥१॥
पूर्व विदेह पुंडरीगिणी, नयरीये सोहे ।
श्रीश्रेयांस राजा तिहां, भविअणना मन मोहे ॥२॥

चउद सुपन निर्मल लही, सत्यकी राणी मात ।
कुन्थु अर जिन अन्तरे, श्रीसीमन्धर जात ॥३॥
अनुक्रमे प्रभु जनमीया, वली यौवन पावे ।
मात पिता हरखे करी, रुक्मिणी परणावे ॥४॥
भोगवी सुख संसारना, संजम मन लावे ।
मुनिसुव्रत नमि अन्तरे, दीक्षा प्रभु पावे ॥५॥
घाती कर्मनो क्षय करी, पाम्या केवल नाण ।
रिखभ लंछने शोभता, सर्व भावना जाण ॥६॥
चोरासी जस गणधरा, मुनिवर एकसो कोड ।
त्रण भुवनमां जोवतां, नहीं कोई एहनी जोड ॥७॥
दस लाख कह्या केवली, प्रभुजीनो परिवार ।
एक समय त्रण कालना, जाणे सर्व विचार ॥८॥
उदय पेढाल जिनान्तरे ए, थाशे जिनवर सिद्ध ।
'जशविजय' गुरु प्रणमतां, शुभ वंछित फल लीध ॥९॥

(२)

श्रीसीमन्धर वीतराग, त्रिभुवन उपकारी ।
श्रीश्रेयांस पिता कुले, बहु शोभा तुम्हारी ॥१॥
धन धन माता सत्यकी, जिन जायो जयकारी ।
वृषभ लंछन विराजमान, वन्दे नर-नारी ॥२॥
धनुष पांचसो देहडी, सोहे सोवन वान ।
'कीर्तिविजय उवझाय'-नो, 'विनय' धरे तुम ध्यान ॥३॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी का स्तवन ।]

(१)

पुक्खलवई विजये जयो रे, नयरी पुंडरीगिणी सार ।
श्रीसीमन्धर साहिबा रे राय श्रेयांस कुमार ॥
जिनन्दराय, धरजो धरम सनेह ॥१॥
मोटा न्हाना अन्तरो रे, गिरुवा नवि दाखंत ।
शशि दरिसन सायर वधे रे, कैरव-वन विकसंत ॥२॥ जि०॥
ठाम कुठाम न लेखवे रे, जग वरसंत जलधार ।
कर दोय कुसुमें वासिये रे, छाया सवि आधार ॥३॥ जि०॥
राय ने रंक सरिखा गणे रे, उद्योते शशि सूर ।
गंगाजल ते बिहुं तणा रे, ताप करे सवि दूर ॥४॥ जि०॥
सरिखा सहु ने तारवा रे, तिम तुमे छो महाराज ।
मुझसुं अन्तर किम करो रे, बांह ग्रह्या नी लाज ॥५॥जि०॥
मुख देखी टीलुं करे रे, ते नवि होय प्रमाण ।
मुजरो माने सवि तणो रे, साहिब तेह सुजाण ॥६॥ जि०॥
वृषभ लंछन माता सत्यकी रे, नन्दन रुक्मिणी कंत ।
'वाचक जश' एम विनवे रे, भय-भंजन भगवंत ॥७॥ जि०॥

(२)

सुणो चन्दाजी ! सीमन्धर परमातम पासे जाजो ।
मुज विनतडी, प्रेम धरीने एणिपरे तुमे संभलावजो ॥
जे त्रण भुवनना नायक छे, जस चोसठ इन्द्र पायक छे,
नाण दरिसण जेहने खायक छे ॥१॥ सुणो० ॥

जेनी कंचनवरणी काया छे, जस धोरी लंछन पाया छे,
पुंडरीगिणी नगरीनो राया छे ॥२॥ सुणो०॥
बार पर्षदा मांहि विराजे छे, जस चोत्रीश अतिशय छाजे छे,
गुण पांत्रीश वाणीए गाजे छे ॥३॥ सुणो० ॥
भविजनने जे पडिबोहे छे, तुम अधिक शीतल गुण सोहे छे,
रूप देखी भविजन मोहे छे ॥४॥ सुणो० ॥
तुम सेवा करवा रसीओ छुं, पण भरतमां दूरे वसीओ छुं,
महा मोहराय कर फसीओ छुं ॥५॥ सुणो० ॥
पण साहिब चित्तमां धरीयो छे, तुम आणा खडग कर ग्रहीयो छे,
पण कांईक मुजथी डरीयो ॥६॥ सुणो०॥
जिन उत्तम पुंठ हवे पूरो, कहे 'पद्मविजय' थाउं शूरो,
तो वाधे मुज मन अति नूरो ॥७॥ सुणो० ॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी की स्तुति[1] ।]

श्रीसीमन्धर जिनवर, सुखकर साहिब देव,
अरिहंत सकलजी, भाव धरी करुं सेव ।
सकलागमपारग, गणधर-भाषित वाणी,
जयवंती आणा, 'ज्ञानविमल' गुणखाणी ॥१॥

१—व्याकरण, काव्य, कोष आदि में स्तुति और स्तवन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, परन्तु इस जगह थोड़ासा व्याख्या-भेद है । एक से अधिक श्लोकों के द्वारा गुण-कीर्तन करने को 'स्तवन' और सिर्फ एक श्लोक से गुण-कीर्तन करने को 'स्तुति' कहते हैं । [चतुर्थ पञ्चाशक, गा० २३ की टीका ।]

[श्रीसिद्धाचलजी का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

श्रीशत्रुञ्जय सिद्धिक्षेत्र, दीठे दुर्गति वारे ।
भाव धरीने जे चढ़े, तेने भव पार उतारे ॥१॥
अनन्त सिद्धनो एह ठाम, सकल तीरथनो राय ।
पूर्व नवाणु रिखवदेव, ज्यां ठविआ प्रभु पाय ॥२॥
सूरजकुंड सोहामणो, कवड जक्ष अभिराम ।
नाभिराया 'कुलमंडणो', जिनवर करूं प्रणाम ॥३॥

(२)

आदीश्वर जिनरायनो, गणधर गुणवंत ।
प्रगट नाम पुंडरिक जास, मही मांहे महंत ॥१॥
पंच क्रोड साथे मुणींद, अणसण तिहां कीध ।
शुक्लध्यान ध्याता अमूल्य, केवल तिहां लीध ॥२॥
चैत्रीपुनमने दिने ए, पाम्या पद महानन्द ।
ते दिनथी पुंडरिकगिरि, नाम 'दान' सुखकन्द ॥३॥

[श्रीसिद्धाचलजी का स्तवन ।]

(१)

विमलाचल नितु वन्दीये, कीजे एहनी सेवा ।
मानु हाथ ए धर्मनो, शिवतरु फल लेवा ॥१॥
उज्ज्वल जिनगृह मंडली, तिहां दीपे उत्तंगा ।
मानु हिमगिरि विभ्रमे, आई अम्बर-गंगा ॥२॥ वि० ॥

कोई अनेरु जग नहीं, ए तीरथ तोले ।
एम श्रीमुख हरि आगले, श्रीसीमन्धर बोले ॥३॥ वि० ॥
जे सघला तीरथ कर्यां, जाना फल कहीये ।
तेहथी ए गिरि भेटतां,शतगणुं फल लहीये ॥४॥ वि० ॥
जनम सफल होय तेहनो, जे ए गिरि वन्दे ।
'सुजशविजय' संपद लहे, ते नर चिर नन्दे ॥५॥ वि०॥

(२)

जात्रा नवाणुं करीए, विमलगिरि जात्रा नवाणुं करीए ।
पूर्व नवाणुं वार शेत्रुजा गिरि, रिखव जिणंद समोसरीए ।१।वि०।
कोडि सहस भव-पातक तूटे, शेत्रुजा स्हामो डग भरीए ।२। वि०॥
सात छट्ठ दोय अट्ठम तपस्या, करी चढ़ीये गिरिवरीये ।३। वि ०।
पुंडरीक पद जयीये हरखे, अध्यवसाय शुभ धरीये ॥४॥वि०॥
पापी अभवी न नजरे देखे, हिंसक पण उद्धरीये ॥५॥ वि०॥
भूमिसंथारो ने नारी तणो संग, दूर थकी परिहरीये ॥६॥वि० ॥
सचित्त परिहारी ने एकल आहारी, गुरु साथे पद चरीये।७।वि०।
पडिक्कमणा दोय विधिशुं करीये, पाप-पडल विखरीये ।८।वि०।
कलिकाले ए तीरथ मोहोटुं, प्रवहण जिम भर दरीये ।९। वि०॥
उत्तम ए गिरिवर सेवंता, 'पद्म' कहे भव तरीये ॥१०॥ वि०॥

(३)

गिरिराज दर्श पावे, जग पुण्यवंत प्राणी ॥
रिखभ देव पूजा करीये, संचित कर्म हरीये ।

गिरि नाम गुण-खानी, जग पुण्यवंत प्राणी ॥१॥ गिरि०॥
सहस्र कमल सोहे, मुक्ति निलय मोहे ।
सिद्धाचल सिद्ध ठानी, जग० ॥२॥ गिरि०॥
शतकूट ढंक कहिये, कदंब छांह रहिये ।
कोडि निवास मानी, जग० ॥३॥ गिरि० ॥
लोहित ताल ध्वज ले, ढंकादि पांच भज ले ।
सुर नर मुनि कहानी, जग० ॥४॥ गिरि० ॥
रतन खान बूटी, रस कुंपिका अखूटी ।
गुरुराज मुख वखानी, जग० ॥५॥ गिरि०॥
पुण्यवंत प्राणी पावे, पूजे प्रभुको भावे ।
शुभ 'वीरविजय' वाणी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥६॥गिरि०॥

[श्रीसिद्धाचलजी की स्तुति ।]

पुंडरगिरि महिमा, आगममां परसिद्ध,
विमलाचल भेटी, लहीये अविचल रिद्ध ।
पंचम गति पहुंता, मुनिवर कोड़ाकोड़,
इण तीरथ आवी, कर्म विपातक छोड़ ॥१॥

पुंडरीक मंडन पाय प्रणमीजे, आदीश्वर जिनचंदाजी,
नेमि विना त्रेवीश तीर्थंकर, गिरि चाढ़िया आणंदाजी ।
आगम मांहे पुंडरीक महिमा, भाख्यो ज्ञान दिणंदाजी,
चैत्री पूनम दिन देवी चक्केसरी, 'सौभाग्य' दो सुखकंदाजी॥१॥

परिशिष्ट ।

अर्थात्

[खरतरगच्छीय प्रतिक्रमण के स्तव आदि विशेष पाठ तथा विधियाँ ।]

स्तव आदि विशेष पाठ ।

[सकल तीर्थ-नमस्कार ।]

सद्भक्त्या देवलोके रविशशिभवने व्यन्तराणां निकाये,
नक्षत्राणां निवासे ग्रहगणपटले तारकाणां विमाने ।
पाताले पन्नगेन्द्रस्फुटमणिकिरणैर्ध्वस्तसान्द्रान्धकारे,
श्रीमत्तीर्थकराणां प्रतिदिवसमहं तत्र चैत्यानि वन्दे ॥१॥

वैताढ्ये मेरुशृङ्गे रुचकगिरिवरे कुण्डले हस्तिदन्ते,
वक्खारे कूटनन्दीश्वरकनकगिरौ नैषधे नीलवन्ते ।
चैत्रे शैले विचित्रे यमकगिरिवरे चक्रवाले हिमाद्रौ,
श्रीमत्ती० ॥२॥

श्रीशैले विन्ध्यशृङ्गे विमलगिरिवरे ह्यर्बुदे पावके वा,
सम्मेते तारके वा कुलगिरिशिखरेऽष्टापदे स्वर्णशैले ।
सह्याद्रौ वैजयन्ते विमलगिरिवरे गुर्जरे रोहणाद्रौ,
श्रीमत्ती० ॥३॥

आघाटे मेदपाटे क्षितितटमुकुटे चित्रकूटे त्रिकूटे,
लाटे नाटे च घाटे विटपिघनतटे हेमकूटे विराटे ।
कर्णाटे हेमकूटे विकटतरकटे चक्रकूटे च भोटे,
श्रीमत्ती० ॥४॥

श्रीमाले मालवे वा मलयिनि निषधे मेखले पिच्छले वा,
नेपाले नाहले वा कुवलयतिलके सिंहले केरले वा।
डाहाले कोशले वा विगलितसलिले जङ्गले वा ढमाले,
श्रीमत्ती० ॥५॥

अङ्गे वङ्गे कलिङ्गे सुगतजनपदे सत्प्रयागे तिलङ्गे,
गौडे चौडे मुरण्डे वरतरद्रविडे उद्रियाणे च पौण्ड्रे ।
आर्द्रे माद्रे पुलिन्द्रे द्रविडकवलये कान्यकुब्जे सुराष्ट्रे,
श्रीमत्ती० ॥६॥

चन्द्रायां चद्रमुख्यां गजपुरमथुरापत्तने चोज्जयिन्यां,
कोशाम्ब्यां कोशलायां कनकपुरवरे देवगिर्यां च काश्याम् ।
रासक्ये राजगेहे दशपुरनगरे भद्दिले ताम्रलिप्त्यां,
श्रीमत्ती० ॥७॥

स्वर्गे मर्त्येऽन्तरिक्षे गिरिशिखरह्रदे स्वर्णदीनीरतीरे,
शैलाग्रे नागलोके जलनिधिपुलिने भूरुहाणां निकुञ्जे ।
ग्रामेऽरण्ये वने वा स्थलजलविषमे दुर्गमध्ये त्रिसन्ध्यं,
श्रीमत्ती० ॥८॥

श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रुचकनगवरे शाल्मलौ जम्बुवृक्षे,
चौज्जन्ये चैत्यनन्दे रतिकररुचके कौण्डले मानुषाङ्के ।
इक्षूकारे जिनाद्रौ च दधिमुखगिरौ व्यन्तरे स्वर्गलोके,
ज्योतिर्लोके भवन्ति त्रिभुवनवलये यानि चैत्यालयानि ॥९॥

इत्थं श्रीजैनचैत्यस्तवनमनुदिनं ये पठन्ति प्रवीणाः,
प्रोद्यत्कल्याणहेतुं कलिमलहरणं भक्तिभाजस्त्रिसन्ध्यम् ।

तेषां श्रीतीर्थयात्राफलमतुलमलं जायते मानवानां,
कार्याणां सिद्धिरुच्चैः प्रमुदितमनसां चित्तमानन्दकारी॥१०॥

सार-इन दस श्लोकों में से नौ श्लोकों के द्वारा तो तीर्थों को नमस्कार किया है और दसवें श्लोक में उस का तीर्थ-यात्रा तथा कार्यसिद्धिरूप फल वतलाया है।

पहिले श्लोक से दिव्य स्थानों में स्थित चैत्यों को; दूसरे और तीसरे श्लोक से वैताढ्य आदि पर्वतीय प्रदेशों में स्थित चैत्यों को; चौथे, पाँचवे और छठे श्लोक से आघाट आदि देशों में स्थित चैत्यों को; सातवें श्लोक से चन्द्रा आदि नगरियों में स्थित चैत्यों को और आठवें तथा नौवें श्लोक से प्राकृतिक, मानुषिक, दिव्य आदि सब स्थानों में स्थित चैत्यों को नमस्कार किया है।

[परसमयतिमिरतरणिं ।]

परसमयतिमिरतरणिं, भवसागरवारितरणवरतरणिम् ।
रागपरागसमीरं, वन्दे देवं महावीरम् ॥१॥

भावार्थ—मिथ्या मत अथवा वहिरात्मभाव-रूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य-समान, संसाररूप समुद्र के जल से पार करने के लिये नौका-समान और रागरूप पराग को उड़ा कर फैंक देने के लिये वायु-समान; ऐसे श्रीमहावीर भगवान् को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

निरुद्धसंसारविहारकारि,-दुरन्तभावारिगणा निकामम् ।
निरन्तरं केवलिसत्तमा वो, भयावहं मोहभरं हरन्तु ॥२॥

भावार्थ—संसार भ्रमण के कारण और बुरे परिणाम को करने वाले ऐसे कषाय आदि भीतरी शत्रुओं को जिन्हों ने बिल्कुल नष्ट किया है, वे केवलज्ञानी महापुरुष, तुम्हारे संसार-के कारणभूत मोह-बल को निरन्तर दूर करें ॥२॥

संदेहकारिकुनयागमरूढगूढ,-संमोहपङ्कहरणामलवारिपूरम् ।
संसारसागरसमुत्तरणोरुनावं, वीरागमं परमसिद्धिकरं नमामि॥३॥

भावार्थ—सन्देह पैदा करने वाले एकान्तवाद के शास्त्रों के परिचय से उत्पन्न, ऐसा जो भ्रमरूप जटिल कीचड़ उस को दूर करने के लिये निर्मल जल प्रवाह के सदृश और संसार समुद्र से पार होने के लिये प्रचण्ड नौका के समान, ऐसे परमसिद्धि-दायक महावीर सिद्धान्त अर्थात् अनेकान्तवाद को मैं नमन करता हूँ ॥ ३ ॥

परिमलभरलोभालीढलोलालिमाला,-
वरकमलनिवासे हारनीहारहासे ।
अविरलभवकारागारविच्छित्तिकारं,
कुरु कमलकरे मे मङ्गलं देवि सारम् ॥४॥

भावार्थ—उत्कट सुगन्ध के लोभ से खिंच कर आये हुए जो चपल भौंरे, उन से युक्त ऐसे सुन्दर कमल पर निवास करने वाली, हार तथा बरफ के सदृश श्वेत, हास्य युक्त और हाथ में

कमल को धारण करने वाली हे देवि ! तू अनादिकाल के संसाररूप कैदखाने को तोड़ने वाले सारभूत मंगल को कर ॥ ४ ॥

[श्रीपार्श्वनाथ की स्तुति ।]

(१)

अश्वसेन नरेसर, वामा देवी नन्द ।
नव कर तनु निरुपम, नील वरण सुखकन्द ॥
अहिलञ्छण सेवित, पउमावइ धरणिन्द ।
प्रह उठी प्रणमूं, नित प्रति पास जिणन्द ॥१॥

(२)

कुलगिरि वेयड्ढइ, कणयाचल अभिराम ।
मानुषोत्तर नन्दी, रुचक कुण्डल सुख ठाम ॥
भुवणेसुर व्यन्तर, जोइस विमाणी नाम ।
वंदे ते जिणवर, पूरो मुझ मन काम ॥ १ ॥

(३)

जिहां अङ्ग इग्यारे, बार उपङ्ग छ छेद ।
दस पयन्ना दाख्या, मूल सूत्र चउ भेद ॥
जिन आगम षद्द्रव्य, सप्त पदारथ जुत्त ।
सांभलि सर्दहतां, त्रूटे करम तुरत्त ॥१॥

(४)

पउमावई देवी, पार्श्व यक्ष परतक्ष ।
सहु संघनां संकट, दूर करेवा दक्ष ॥
सुमरो जिनभक्ति, सूरि कहे इकचित्त ।
सुख सुजस समापो, पुत्र कलत्र बहुवित्त ॥१॥

[श्रीआदिनाथ का चैत्य-वन्दन ।]

जय जय त्रिभुवन आदिनाथ, पञ्चम गति गामी ।
जय जय करुणा शान्त दान्त, भवि जन हितकारी ॥
जय जय इन्द नरिन्द वृन्द, सेवित सिरनामी ।
जय जय अतिशयानन्तवन्त, अन्तर्गतजामी ॥ १ ॥

[श्रीसीमन्धर स्वामी का चैत्य-वन्दन ।]

पूरव विदेह विराजता ए, श्रीसीमन्धर स्वाम ।
त्रिकरणशुद्ध त्रिहुं काल में, नित प्रति करूं प्रणाम ॥१॥

[श्रीसिद्धाचल का चैत्य-वन्दन ।]

जय जय नाभि नरेन्द,-नन्द सिद्धाचल मण्डण ।
जय जय प्रथम जिणन्द चन्द, भव दुःख विहंडण ॥
जय जय साधु सुरिन्द विन्द, वन्दिय परमेसुर ।
जय जय जगदानन्द कन्द, श्रीऋषभ जिणेसुर ॥
अमृत सम जिनधर्मनो ए, दायक जगमें जाण ।
तुझ पद पङ्कज प्रीति धर, निशि दिन नमत कल्याण॥१॥

[सामायिक तथा पौषध पारने की गाथा ।]

† भयवं दसन्नभद्दो, सुदंसणो थूलभद्द वयरो य ।
सफलीकयगिहचाया, साहू एवंविहा हुंति ॥१॥

भावार्थ—श्रीदशार्णभद्र, सुदर्शन, स्थूलभद्र और वज्र-स्वामी, ये चार, ज्ञानवान् महात्मा हुए और इन्हों ने गृहस्थाश्रम

---

† भगवान् दशार्णभद्रस्सुदर्शनस्स्थूलभद्रो वज्रश्च ।
सफलीकृतगृहत्यागास्साधव एवंविधा भवन्ति ॥ १ ॥

के त्याग को चारित्र-पालन करके सफल किया। संसार-त्याग को सफल करने वाले सभी साधु इन्हीं के जैसे होते हैं ॥१॥

* साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिया भावा।
फासुअदाणे निज्जर, अभिग्गहो नाणमाईणं ॥२॥

भावार्थ—साधुओं को प्रणाम करने से पाप नष्ट होता है, परिणाम शङ्काहीन अर्थात् निश्चित हो जाते हैं तथा अचित्त-दान द्वारा कर्म की निर्जरा होने का और ज्ञान आदि आचार-संबन्धी अभिग्रह लेने का अवसर मिलता है ॥ २ ॥

× छउमत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तं पि संभरइ जीवो।
जं च न संभरामि अहं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स॥३॥

भावार्थ—छद्मस्थ व मूढ जीव कुछ ही बातों को याद कर सकता है, सब को नहीं, इस लिये जो जो पाप-कर्म मुझे याद नहीं आता, उस का मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ३ ॥

‡ जं जं मणेण चिंतिय,-मसुहं वायाइ भासियं किंचि।
असुहं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥४॥

भावार्थ—मैं ने जो जो मन से अशुभ चिन्तन किया, वाणी

---

* साधूना वन्दनेन नश्यति पापमशङ्किता भावाः।
प्रासुकदानेन निर्जराऽभिग्रहो ज्ञानादीनाम् ॥ २ ॥

+ छद्मस्थो मूढमनाः कियन्मात्रमपि स्मरति जीवः।
यच्च न स्मराम्यहं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ३ ॥

‡ यद्यन्मनसा चिन्तितमशुभं वाचा भाषितं किञ्चित्।
अशुभं कायेन कृतं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ४ ॥

से अशुभ भाषण किया और काया से अशुभ कार्य किया, वह सब निष्फल हो ॥ ४ ॥

+ सामाइयपोसहसं,-ट्ठियस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ॥५॥

भावार्थ—सामायिक और पौषध में स्थित जीव का जितना समय व्यतीत होता है, वह सफल है और बाकी का सब समय संसार-वृद्धि का कारण है ॥ ५ ॥

[जय महायस ।]

† जय महायस जय महायस जय महाभाग जय चिंतियसुहफलय
जय समत्थपरमत्थजाणय जय जय गुरुगरिम गुरु ।
जय दुहत्तसत्ताण ताणय थंभणयट्ठिय पासजिण,
भवियह भिमिभवत्थु भयअवं णंताणंतगुण ।
तुज्झ तिसंझ नमोत्थु ॥ १ ॥*

+ सामायिकपौषधसंस्थितस्य जीवस्य याति यः कालः ।
स सफलो बोद्धव्यः शेषः संसारफलहेतुः ॥ ५ ॥

† जय महायशो जय महायशो जय महाभाग जय चिन्तितशुभफलद,
जय समस्तपरमार्थज्ञायक जय जय गुरुगरिम गुरो ।
जय दु खार्तसत्त्वानां त्रायक स्तम्भनकास्थित पार्श्वजिन ।
भव्यानां भिमिभवास्त्र भगवन् अनन्तानन्तगुण ॥
तुभ्यं त्रिसन्ध्यं नमोऽस्तु ॥ १ ॥

* भिन्न-भिन्न प्रतियों में यह गाथा पाठान्तर वाली है। जैसे-'गिरिम' तथा 'गरिम' 'भवुत्थु' तथा 'भवत्थु' 'भव अवणंताणंतगुण' तथा 'भयअवणिताणंतगुण'। हम ने अर्थ और व्याकरण की तरफ दृष्टि दगा कर उसे कल्पना से शुद्ध किया है। सम्भव है, असली मूल पाठ से वह न भी मिले। मूल शुद्ध प्रति वाले मिला कर सुधार सकते हैं और हमें सूचना भी दे सकते हैं।

अर्थ—हे महायशस्विन् ! हे महाभाग्य ! हे इष्ट शुभ फल के दायक ! हे संपूर्ण तत्वों के जानकार ! हे प्रधान गौरव-शाली गुरो ! हे दुःखित प्राणियों के रक्षक ! तेरी जय हो, तेरी जय हो और वार-वार जय हो । हे भव्यों के भयानक संसार को नाश करने के लिये अस्त्र समान ! हे अनन्तानन्त गुणों के धारक ! भगवन् स्तम्भन पार्श्वनाथ ! तुझ को तीनों संध्याओं के समय नमस्कार हो ॥१॥

[श्रीमहावीर जिन की स्तुति ।]

(१)

मूरति मन मोहन, कंचन कोमल काय ।
सिद्धारथ-नन्दन, त्रिशला देवी माय ॥
मृग नायक लंछन, सात हाथ तनु मान ।
दिन दिन सुखदायक, स्वामी श्रीवर्द्धमान ॥१॥

(२)

सुर नर किन्नर, वंदित पद अरविंद ।
कामित भर पूरण, अभिनव सुरतरु कंद ॥
भवियणने तारे, प्रवहण सम निशदीस ।
चोवीस जिनवर, प्रणमूं विसवा वीस ॥१॥

(३)

अरथें करि आगम, भांख्या श्रीभगवंत ।
गणधरने गूंथ्या, गुणनिधि ज्ञान अनन्त ॥
सुर गुरु पण महिमा, कहि न सके एकान्त ।
समरूं सुखसायर, मन शुद्ध सूत्र सिद्धान्त ॥१॥

(४)

सिद्धायिका देवी, वारे विघन विशेष ।
सहु संकट चूरे, पूरे आश अशेष ॥
अहोनिश कर जोड़ी, सेवे सुर नर इन्द ।
जंपे गुण गण इम, श्रीजिनलाभ सुरिन्द ॥ १ ॥

[श्रुतदेवता की स्तुति ।]

सुवर्णशालिनी देयाद्, द्वादशाङ्गी जिनोद्भवा ।
श्रुतदेवी सदा मह्य,-मशेष श्रुतसंपदम् ॥१॥

अर्थ—जिनेन्द्र की कही हुई वह श्रुतदेवता, जो सुन्दर-सुन्दर वर्ण वाली है तथा बारह अङ्गों में विभक्त है, मुझे हमेशा सकल शास्त्रों की सम्पत्ति-रहस्य देती रहे ॥१॥

[क्षेत्रदवता का स्तुति ।]

यासां क्षेत्रगतास्सन्ति, साधवः श्रावकादयः ।
जिनाज्ञां साधयन्तस्ता, रक्षन्तु क्षेत्रदेवताः ॥१॥

अर्थ—जिन के क्षेत्र में रह कर साधु तथा श्रावक आदि, जिन भगवान् की आज्ञा को पालते हैं, वे क्षेत्रदेवता हमारी रक्षा कर ॥१॥

[भुवनदेवता की स्तुति ।]

चतुर्वर्णाय संघाय, देवी भुवनवासिनी ।
निहत्य दुरितान्येषा, करोतु सुखमक्षयम् ॥१॥

अर्थ—भुवनवासिनी देवी, पापों का नाश करके चारों सङ्घों के लिये अक्षय सुख दे ॥१॥

[सिरिथंभणयट्ठिय पाससामिणो।]

* सिरिथंभणयट्ठियपास,-सामिणो सेसतित्थसामीणं।
तित्थसमुन्नइकारणं, सुरासुराणं च सव्वेसिं ॥१॥
एसमहं सरणत्थं, काउस्सग्गं करेमि सत्तीए।
भत्तीए गुणसुट्ठिय,-स्स संघस्स समुन्नइनिमित्तं ॥२॥

अर्थ—श्रीस्तम्भन तीर्थ में स्थित पार्श्वनाथ, शेष तीर्थों के स्वामी और तीर्थों की उन्नति के कारणभूत सब सुर-असुर, ॥१॥ इन सब के स्मरण-निमित्त तथा गुणवान् श्रीसङ्घ की उन्नति के निमित्त मैं शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥२॥

[श्रीथंभण पार्श्वनाथ का चैत्य-वन्दन।]

श्रीसेढीतटिनीतटे पुरवरे श्रीस्तम्भने स्वर्गिरौ,
श्रीपूज्याऽभयदेवसूरिविबुधाधीशैस्समारोपितः।
संसिक्तस्स्तुतिभिर्जलैः शिवफलैः स्फूर्जत्फणापल्लवः,
पार्श्वः कल्पतरुस्स मे प्रथयतां नित्यं मनोवाञ्छितम् ॥१॥

अर्थ—श्रीसेढी नामक नदी के तीर पर खंभात नामक सुन्दर शहर है, जो समृद्धिशाली होने के करण सुमेरु के समान है। उस जगह श्रीअभयदेव सूरिने कल्पवृक्ष के समान पार्श्वनाथ प्रभु को स्थापित किया और जल-सदृश स्तुतिओं के द्वारा उस

---

* श्रीस्तम्भनकस्थितपार्श्वस्वामिनश्शेषतीर्थस्वामिनाम्।
तीर्थसमुन्नतिकारणं सुरासुराणां च सर्वेषाम् ॥१॥
एषामहं स्मरणार्थं कायोत्सर्गं करोमि शक्त्या।
भक्त्या गुणसुस्थितस्य संघस्य समुन्नतिनिमित्तम् ॥२॥

का सेचन अर्थात् उस को अभिषिक्त किया । भगवान् पर जो नागफण का चिह्न है, वह पल्लव के समान है । मोक्ष-फल को देने वाला वह पार्श्व-कल्पतरु मेरे इष्ट को नित्य पूर्ण करे ।

आधिव्याधिहरो देवो, जीरावल्लीशिरोमणिः ।
पार्श्वनाथो जगन्नाथो, नतनाथो नृणां श्रिये ॥२॥

अर्थ—आधि तथा व्याधि को हरने वाला, जीरावली नामक तीर्थ का नायक और अनेक महान् पुरुषों से पूजित, ऐसा जो जगत् का नाथ पार्श्वनाथ स्वामी है, वह सब मनुष्यों की संपत्ति का कारण हो ॥२॥

[श्रीपार्श्वनाथ का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

जय तिहुअणवरकप्परुक्ख जय जिणधन्नंतरि,
जय तिहुअणकल्लाणकोस दुरिअक्करिकेसरि ।
तिहुअणजणअविलंघिआण भुवणत्तयसामिअ,
कुणसु सुहाइ जिणेस, पास थंभणयपुरट्ठिअ ॥ १ ॥

(२)

तइ समरंत लहंति झत्ति वरपुत्तकलत्तइ,
धण्णसुवण्णहिरण्णपुण्ण जण भुंजइ रज्जइ ।
पिक्खइ मुक्ख असंखसुक्ख तुह पास पसाइण,
इअ तिहुअणवरकप्परुक्ख सुक्खइ कुण मह जिण ॥ २ ॥

(३)

जरजज्जर परिजुण्णकण्ण नट्ठट्ठु सुकुट्ठिण,
चक्खुक्खीण खएण खुण्ण नर सल्लिय सूलिण ।

तुह जिण सरणरसायणेण लहु हंति पुणण्णव,
जयधन्नंतरि पास मह वि तुह रोगहरो भव ॥ ३ ॥

(४)

विज्जाजोइसमंततंतसिद्धिउ अपयत्तिण,
भुवणब्भुउ अट्ठविह सिद्धि सिज्झहि तुह नामिण ।
तुह नामिण अपविचओ वि जण होइ पवित्तउ,
तं तिहुअणकल्लाणकोस तुह पास निरुत्तउ ॥ ४ ॥

(५)

खुद्दपउत्तइ मंततंतजंताइ विसुत्तइ,
चरथिरगरलगहुग्गखग्गरिउवग्ग विगंजइ ।
दुत्थियसत्थअणत्थघत्थ नित्थारइ दय करि,
दुरियइ हरउ स पास देउ दुरियकरिकेसरि ॥ ५ ॥

(६)

जइ तुह रूविण किण वि पेयपाइण वेलवियउ,
तुवि जाणउ जिण पास तुम्हि हउं अंगीकरिउ ।
इय मह इच्छिउ जं न होइ सा तुह ओहावणु,
रक्खंतह नियकित्ति णेय जुज्जइ अवहीरणु ॥ २९ ॥

(७)

एइ महारिय जत्त देव इहु न्हवण महूसउ,
जं अणलियगुणगहण तुम्ह मुणिजण अणिसिद्धउ ।
एम पसीह सुपासनाह थंभणयपुरट्ठिय,
इय मुणिवरु सिरिअभयदेउ विन्नवइ अणिंदिय ॥३०॥

विधियाँ ।

प्रभातकालीन सामायिक की विधि ।

दो घड़ी रात बाकी रहे तब पौषधशाला आदि एकान्त स्थान में जा कर अगले दिन पडिलेहन किये हुए शुद्ध वस्त्र पहिन कर गुरु न हो तो तीन नमुक्कार गिन कर स्थापनाचार्य स्थापे। बाद खमासमण दे कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' कह कर 'सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुँ?' कहे। गुरु के 'पडिलेहेह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर मुहपत्ति का पडिलेहन करे। फिर खड़े रह कर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक संदिसाहुँ?' कहे। गुरु 'संदिसावेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर फिर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक ठाउँ?' कहे। गुरु के 'ठाएह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर आधा अङ्ग नमा कर तीन नमुक्कार गिन कर कहे कि 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी सामायिक दण्ड उच्चरावो जी'। तब गुरु के 'उच्चरावेमो' कहने के बाद 'करेमि भंते सामाइयं' इत्यादि सामायिक सूत्र तीन वार गुरु-वचन-अनुभाषण-पूर्वक पढ़े। पीछे खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'इरियावहियं पडिक्कमामि?' कहे। गुरु 'पडिक्कमह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए' इत्यादि इरियावहिय करके एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर तथा 'नमो अरिहंताणं' कह कर उस को पार कर प्रगट लोगस्स कहे।

फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे संदिसाहुँ?' कहे। गुरु 'संदिसावेह' कहे तब फिर 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे ठाउँ?' कहे। और गुरु 'ठाएह' कहे तब 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुँ?' कहे। गुरु के 'संदिसावेह' कहने के बाद 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय करुँ?' कहे और गुरु के 'करेह' कहे बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक खड़े-ही-खड़े आठ नमुक्कार गिने।

अगर सर्दी हो तो कपड़ा लेने के लिये पूर्वोक्त रीतिसे खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पंगुरण संदिसाहुँ?' तथा 'पंगुरण पडिग्गाहुँ?' क्रमशः कहे और गुरु 'संदिसावेह' तथा 'पडिग्गाहेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर वस्त्र लेवे। सामायिक तथा पौषध में कोई वैसा ही व्रती श्रावक वन्दन करे तो 'वंदामो' कहे और अव्रती श्रावक वन्दन करे तो 'सज्झाय करेह' कहे।

रात्रि-प्रतिक्रमण की विधि।

खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'चैत्य-वन्दन करुँ?' कहने के बाद गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'जयउ सामि'[1]

---

[1]—तपागच्छ की सामाचारी के अनुसार 'जगचिन्तामणि' का चैत्य-वन्दन जो पृष्ठ २१ पर है, वही खरतरगच्छ की सामाचारी में 'जयउ सामि०' कहलाता है, क्योंकि उस में 'जगचिन्तामणि' यह प्रथम गाथा नहीं बोली जाती; किन्तु 'जयउ सामि०' यह गाथा ही शुरु में बोली जाती है।

'जयउ सामि, का 'जय वीयराय' तक चैत्य-वन्दन करे फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर के 'कुसुमिणदुसुमिण-राइयपायच्छित्तविसोहणत्थं काउस्सग्गं करूँ?' कहे और गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'कुसुमिणदुसुमिणराइयपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' तथा 'अन्नत्थ ऊससिएणं' इत्यादि कह कर चार लोगस्स का 'चंदेसु निम्मलयरा' तक काउस्सग्ग करके 'नमो अरिहंताणं'-पूर्वक प्रगट लोगस्स पढ़े।

रात्रि में मूलगुणसम्बन्धी कोई बड़ा दोष लगा हो तो 'सागरवरगम्भीरा' तक काउस्सग्ग करे। प्रतिक्रमण का समय न हुआ हो तो सज्झाय ध्यान करे। उस का समय होते ही एक एक खमासमण पूर्वक "आचार्य मिश्र, उपाध्याय मिश्र" अंगम युगप्रधान वर्तमान भट्टारक का नाम और 'सर्वसाधु' कह कर सब को अलग अलग वन्दन करे। पीछे 'इच्छकारि समस्त श्रावकों को वंदूं' कह कर घुटने टेक कर सिर नमा कर दोनों हाथों

इस के सिवाय खरतरगच्छ की सामाचारी में निम्न-लिखित पाठ-भेद भी है:-
चौथी गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है.-

"चउसय छया सिया, तिल्लुक्के चेइए वंदे ॥ ४ ॥"

अन्तिम गाथा तो बिल्कुल भिन्न है:—

"वन्दे नव कोडिसयं, पणवीसं कोडिलक्ख तेवन्ना।
अट्ठावीस सहस्सा, चउसय अट्ठासिया पडिमा" ॥५॥

२—खरतरगच्छ में 'जय वीयराय०' की सिर्फ दो गाथाएँ अर्थात् "सेवणा आभवमखण्डा" तक बोलने की परम्परा है, अधिक बोलने की नहीं। यह परम्परा बहुत प्राचीन है। इस के सबूत में ३९ वें पृष्ठ का नोट देखना चाहिये।

से मुँह के आगे मुहपत्ति रख कर 'सव्वस्स वि राइय०' पढ़े, परन्तु 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्, इच्छं' इतना न कहे। पीछे 'शक्रस्तव' पढ़ कर खड़े हो कर 'करेमि भंते सामाइय०' कह कर 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे राइयो०' तथा 'तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करके उस को पार कर प्रगट लोगस्स कह कर 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं वंदण०' कह कर फिर एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर तथा उसे पार कर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' सूत्र पढ़ कर 'सुअस्स भगवओ' कह कर 'आजूणां चउपहरी रात्रिसम्बन्धी' इत्यादि आलोयणा का काउस्सग्ग में चिन्तन करे अथवा आठ नमुक्कार का चिन्तन करे। बाद काउस्सग्ग पार कर 'सिद्धाणं बुद्धाणं' पढ़ कर प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहण करे और दो वन्दना देवे। पीछे 'इच्छा०' कह कर 'राइयं आलोउं?' कहे। गुरु के 'आलोएह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जो मे राइयो०' सूत्र पढ़ कर प्रथम काउस्सग्ग में चिन्तन किये हुए 'आजूणा' इत्यादि रात्रि-अतिचारों को गुरु के सामने प्रगट करे और पीछे 'सव्वस्स वि राइय', कह कर 'इच्छा०' कह कर रात्रि-अतिचार का प्रायश्चित्त मांगे।

१–खरतरगच्छ वाले 'सात लाख' बोलने के पहिले 'आजूणा चउपहर रात्रिसम्बन्धी जो कोई जीव विराधना हुई' इतना और बोलते हैं। और 'अठारह पापस्थान' के बाद 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पाटी, पोथी, ठवणी, नमुक्कार वाली देव, गुरु, धर्म आदि की आशातना तथा पन्द्रह कर्मादान की, आसेवना और स्त्रीकथा आदि चार कथाएं की करी करा अनुमोदनी की' तो वह सब 'मिच्छा मि दुक्कडं' इतना और बोलते हैं।

गुरु के 'पडिक्कमह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' कहे। बाद प्रमार्जनपूर्वक आसन के ऊपर दक्षिण जानू को ऊँचा कर तथा वाम जानू को नीचा करके बैठ जाय और 'भगवन् सूत्र भणुँ?' कहे। गुरु के 'भणह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर तीन-तीन या एक-एक बार नमुक्कार तथा 'करेमि भंते' पढ़े। बाद 'इच्छामि पडिक्कमिउ जो मे राइओ' सूत्र तथा 'वंदित्तु' सूत्र पढ़े। बाद दो वन्दना दे कर 'इच्छा०' कह कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं खामेउँ?' कहे। बाद गुरु के 'खामेह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर प्रमार्जनपूर्वक घुटने टेक कर दो बाहू पडिलेहन कर वाम हाथ से मुख के आगे मुहपत्ति रख कर दक्षिण हाथ गुरु के सामने रख कर शरीर नमा कर 'जं किंचि अपत्तियं' कहे। बाद जब गुरु 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहे तब फिर से दो वन्दना देवे। और 'आयरिय उवज्झाए' इत्यादि तीन गाथाएँ कह कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे। उस में वीर-कृत पाड्मासी तप का चिन्तन किम्बा छह लोगस्स या चौवीस नमुक्कार का चिन्तन करे। और जो पच्चक्खाण करना हो तो मन में उस का निश्चय करके काउस्सग्ग पारे तथा प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर उकड़ूँ आसन से बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर सकल तीर्थों को नामपूर्वक नमस्कार करे और 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पसायकरी पच्चक्खाण कराना जी' कह कर गुरु-मुख से या स्थापनाचार्य के सामने अथवा वृद्ध साध-

मिक के मुख से प्रथम निश्चय के अनुसार पच्चक्खाण कर ले। बाद 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर बैठ जाय। और गुरु के एक स्तुति पढ़ जाने पर मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०' पढ़े। बाद 'संसारदावानल' या 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' 'या परसमयतिमिरतरणिं' की तीन स्तुतियाँ पढ़ कर 'शक्रस्तव' पढ़े। फिर खड़े हो कर 'अरिहंत चेइयाणं' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करे। और उस को 'नमोऽर्हत्–' पूर्वक पार कर एक स्तुति पढ़े। बाद 'लोगस्स, सव्वलोए' पढ़ कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तथा पारके दूसरी स्तुति पढ़े। पीछे 'पुक्खरवर, सुअस्स भगवओ' पढ़ कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग पारके तीसरी स्तुति कहे। तदनन्तर 'सिद्धाण बुद्धाणं, वेयावच्चगराणं' बोल कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग 'नमोऽर्हत्'-पूर्वक पारके चौथी स्तुति पढ़े। फिर 'शक्रस्तव' पढ़ कर तीन खमासमण-पूर्वक आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओं को वन्दन करे।

यहाँ तक रात्रि-प्रतिक्रमण पूरा हो जाता है। और विशेष स्थिरता हो तो उत्तर दिशा की तरफ मुख करके सीमन्धर स्वामी का 'कम्मभूमीहिं कम्मभूमीहिं' से ले कर 'जय वीयराय०' तक संपूर्ण चैत्य-वन्दन तथा 'अरिहंत चेइयाणं०' कहे और एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तथा उस को पारके सीमन्धर स्वामी की एक स्तुति पढ़े।'

अगर इस से भी अधिक स्थिरता हो तो सिद्धाचल जी का चैत्य-वन्दन कहके प्रतिलेखन करे। यही क्रिया अगर संक्षेप में करनी हो तो दृष्टि-प्रतिलेखन करे और अगर विस्तार से करनी हो तो खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कहे और मुहपत्ति-पडिलेहन, अंग-पडिलेहन, स्थापनाचार्य-पडिलेहन, उपधि-पडिलेहन तथा पौषधशाला का प्रमार्जन करके कूड़े-कचरे को विधिपूर्वक एकान्त में रख दे और पीछे 'इरियावहियं' पढ़े।

सामायिक पारने की विधि।

खमासमण-पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहन करके फिर खमासमण कहे। बाद 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक पारुँ ?' कहे। गुरु के 'पुणो वि कायव्वो' कहने के बाद 'यथाशक्ति' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक पारेमि' कहे। जब गुरु 'आयारो न मोत्तव्वो' कहे तब 'तहत्ति' कह कर आधा अङ्ग नमा कर खड़े-ही-खड़े तीन नमुक्कार पढ़े और पीछे घुटने टेक कर तथा शिर नमा कर 'भयवं दसन्नभद्दो' इत्यादि पाँच गाथाएँ पढ़े तथा 'सामायिक विधि से लिया' इत्यादि कहे।

संध्याकालीन सामायिक की विधि।

दिन के अन्तिम प्रहर में पौषधशाला आदि किसी एकान्त स्थान में जा कर उस स्थान का तथा वस्त्र का पडिलेहन करे। अगर देरी हो गई हो तो दृष्टि-पडिलेहन कर लेवे। फिर गुरु या स्थापनाचार्य के सामने बैठ कर भूमि का प्रमार्जन करके

बाँईं ओर आसन रख कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुँ?' कहे । गुरु के 'पडिलेहेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे । फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक संदिसाहुं, सामायिक ठाउं, इच्छं, इच्छकारि भगवन् पसायकरि सामायिक दंड उच्चरावो जी' कहे । बाद तीन वार नमुक्कार, तीन वार 'करेमि भंते' 'सामाइयं' तथा 'इरियावहियं' इत्यादि काउस्सग्ग तथा प्रगट लोगस्स तक सब विधि प्रभात के सामायिक की तरह करे । बाद नीचे बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छकारि भगवन् पसायकरि पच्चक्खाण कराना जी' कहे । फिर गुरु के मुख से या स्वयं या किसी बड़े के मुख से दिवस चरिमं का पच्चक्खाण करे ।

अगर तिविहाहार उपवास किया हो तो वन्दना न दे कर सिर्फ मुहपत्ति पडिलेहन करके पच्चक्खाण कर लेवे और अगर चउव्विहाहार उपवास हो तो मुहपत्ति पडिलेहन भी न करे । बाद को एक एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुँ?, सज्झाय करुँ?' तथा 'इच्छं' यह सब पूर्व की तरह क्रमशः कहे और खड़े हो कर खमासमण-पूर्वक आठ नमुक्कार गिने । फिर एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे संदिसाहुँ?, बेसणे ठाउँ?' तथा 'इच्छं' यह सब क्रमशः पूर्व की तरह कहे ।

और अगर वस्त्र की ज़रूरत हो तो उस के लिये भी एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पगुरण संदिसाहुँ ?. पंगुरण पडिग्गाहुँ ?' तथा 'इच्छं' यह सब पूर्व की तरह कह कर वस्त्र ग्रहण कर ले और शुभ ध्यान में समय बितावे।

दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि।

तीन खमासमण-पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् चैत्य-वन्दन करुं ?' कहे। गुरु के 'करेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जय तिहुअण, जय महायस' कह कर 'शक्रस्तव' कहे। और 'अरिहंत चेइयाणं' इत्यादि सब पाठ पूर्वोक्त रीति से पढ़ कर काउस्सग्ग आदि करके चार थुइ का देव वन्दन करे। इस के पश्चात् एक-एक खमासमण दे कर आचार्य आदि को वन्दन करके 'इच्छकारि समस्त श्रावकों को वंदूं' कहे। फिर घुटने टेक कर शिर नमा कर 'सव्वस्स वि देवसिय' इत्यादि कहे। फिर खड़े हो कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे। इस में 'आजूणा चौपहर दिवस में' इत्यादि पाठ का चिन्तन करे। फिर काउस्सग्ग पारके प्रगट लोगस्स पढ़ कर प्रमार्जन-पूर्वक बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहन करके दो वन्दना दे। फिर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोएमि?' कहे। गुरु जब 'आलोएह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'आलोएमि जो मे ०, आजूणा चौपहर दिवससंबन्धी०, सात लाख, अठारह

पापस्थान' कह कर 'सव्वस्स वि देवसिय, इच्छाकारेण संदिसह भगवन्०' तक कहे। जब गुरु 'पडिक्कमह' कहे तब 'इच्छं, मिच्छा मि दुक्कड' कहे। फिर प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर 'भगवन् सूत्र भणुँ?' कहे। गुरु के 'भणह' कहने पर 'इच्छं' कह कर तीन-तीन या एक-एक बार नमुक्कार तथा 'करेमि भंते' पढ़े। फिर 'इच्छामि पडिक्कमिउ जो मे देवसियो०' कह कर 'वंदित्तु' सूत्र पढ़े। फिर दो वन्दना दे कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसियं खामेउं, इच्छं, जं किंचि अपत्तियं०' कह कर फिर दो वन्दना देवे और 'आयरिय उवज्झाए' कह कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी' आदि कह कर दो लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर 'सव्वलोए' कह कर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे और उस को पार कर 'पुक्खरवर०, सुअस्स भगवओ०' कह कर फिर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे। तत्पश्चात् 'सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअदेवयाए०' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग कर तथा श्रुतदेवता की स्तुति पढ़ कर 'खित्तदेवयाए करेमि०' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके क्षेत्रदेवता की स्तुति पढ़े। बाद खड़े हो कर एक नमुक्कार गिने और प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर बैठ जाय। फिर जब गुरु एक स्तुति पढ़ ले तब मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्सिद्धा०' कहे। बाद श्रावक 'नमोस्तु वर्द्धमानाय०' की तीन स्तुतियाँ और श्राविका 'संसारदावा'

तीन स्तुतियाँ पढ़े । फिर 'नमुत्थुणं' कह कर खमासमण पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'स्तवन भणु' कहे । बाद गुरु के 'भणह' कहने पर आसन पर बैठ कर 'नमोऽर्हत्सिद्धा०' पूर्वक बड़ा स्तवन बोले । पीछे एक-एक खमासमण दे कर आचार्य उपाध्याय तथा सर्व साधु को वन्दन करे । फिर खमासमण पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'देवसियपायच्छित्तविसुद्धिनिमि काउस्सग्ग करूँ' कहे । फिर गुरु के 'करेह' कहने के बा 'इच्छं' कह कर 'देवसिअपायच्छित्तविसुद्धिनिमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े । फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह क 'खुद्दोवद्दवउड्डावणनिमित्तं काउस्सग्ग करेमि, अन्नत्थ०' क कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े । फि खमासमण-पूर्वक स्तम्भन पार्श्वनाथ का 'जय वीयराय' त चैत्य-वन्दन करके 'सिरिथंभणयट्ठियपाससामिणो' इत्या दो गाथाएँ पढ़ कर खड़े हो कर वन्दन तथा 'अन्नत्थ०' क कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े ।

इस तरह दादा जिनदत्त सूरि तथा दादा जिनकुशल सू का अलग-अलग काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े । इस बाद लघु शान्ति पढ़े । अगर लघु शान्ति न आती हो तो सोल नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तीन खमासमण-पूर्वक 'चउक्कसाय' का 'जय वीयराय०' तक चैत्य-वन्दन करे । फिर 'सर्वमंग कह कर पूर्वोक्त रीति से सामायिक करे ।

शुद्धिपत्र।

अशुद्धि§ ।	शुद्धि ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति‡।
होंइ	होइ	१६	१
'होई'	'होइ'	१६	१३
पिच्छामि	मिच्छा मि	२०	४
'निच्चं'	'निच्च'	२४	५
कर्म भूमियों में	कर्मभूमियों में	२४	८
स्थिति	स्थित	२५	७
आदि नाथ	आदिनाथ	२६	८
पातल	पाताल	२७	७
अर्हद्भ्यो	अर्हद्भ्यो	२८	७
आदिकरेभ्य स्तीर्थंकरेभ्यः	आदिकरेभ्यस्तीर्थंकरेभ्यः	२९	७

‡ अशुद्धि, जिस टाईप की हो; पङ्क्तियाँ, उसी टाईप की गिननी चाहिए, औरों की छोड़ देनी चाहिए ।

§ कई जगह मशीन की रगड़ से मात्राएँ खिसक गई हैं और अक्षर उड़ गये हैं, ऐसी अशुद्धियाँ किसी२ प्रति में हैं और किसी२ में नहीं भी हैं, उन में से मोटी२ अशुद्धियाँ भी यहाँ ले ली गई हैं ।

			०र खमासमण-
भगवं-ताणं	भगवंताणं	२६	२
०दयेभ्य धर्म०	०दयेभ्यः धर्मदयेभ्यः धमदरावेभ्य-धर्म०	२६	३
नामधेयं	नामधेयं	३१	५
अइआं	अइआ	३१	१
उद्धे	उद्दे	३३	१
पातल	पाताल	३३	१५
त्रिविधेन	त्रिविधेन	३४	३
वदामि	वंदामि	३५	२
अधार	आधार	३६	१०
भावथ	भावार्थ	३७	३रे श्लोकका
सम्मते	सम्मत्ते	३७	३
भवार्थ	भावार्थ	३८	५वें श्लोक का
०णुसारिआ	०णुसारिआ	३६	२
मग्गणुसारिआ	मग्गाणुसारिआ	३६	४
हरिभद्रसूरि	हरिभद्रसूरि	३६	६
मार्गानुसरिता	मार्गानुसारिता	३६	१०
वीराय	वीयराय	४१	शीर्षकमें
जड़	जड़,	४२	३
तत्व-चिंतन	तत्त्व-चिन्तन	४३	४
समुपादरं	समुद्दपारं	४४	३
०मग्गेवर०	०मग्गे वर०	४५	१

–०कुँवाई० .... ०कुवाइ० .... ४५ ....१२
को । तोड़ने .... को तोड़ने .... ४५ ....१३
साम्यग्ज्ञान ... सम्यग्ज्ञान .... ४६ .... ३
सम्मक् .... सम्यक् .... ४६ .... ३
'वाणमिरि' .... 'वाणसिरी' .... ४६ ....१३
०हरणेसमीरं ... ०हरणे समीरं ४७ ... १
–हरणे– .... –हरणे .... ४७ .... ७
संभार सारे ... संभारसारे ... ५१ ... १
लोल .... 'लोल' .... ५१ .... २
[श्रुत को] .... [श्रुत]को.... ५३ .... ६
नें .... ने .... ५५ ....१४
सिद्धेभ्यो ... सिद्धेभ्यो ... ५६ ... ०६
कों .... को .... ६१ .... २
विमक्ति ... विभक्ति ... ६१ ... ३
दूध्यांतो ... दुध्यांतो ... ६२ ... ५
०रियवीरियारे ... ०रेय वीरियायारे ६४ ... १
माद् ... आदि ... ६६ ... २
बाह ... बाहर ... ७४ ... १३
मन ... मैं ने ... ८० ... ७
सावद्य–आरम्भ .... सावद्य आरम्भ ८३ ....१६
भस .... भैस .... ८६ ....१०
०उग्रप्र० ... ०उग्र प्र० ... ८८ ... १
,, ... ,, ,, ... ९० ... २
,, ... ,, ,, ... ९२ ... २
,, ... ,, ,, ... ९६ ... २

कुक्कइए	कुक्कुइए	१०५	५
,,	,,	१०५	७
पासेहोववासस्स	पोसहोववासस्स	११०	३
सथारए	संथारए	११०	४
तच्च	तच्च	११३	२
शिक्षा	शिक्षा के	११६	१
'नि'	'न'	११८	६
भवन्ति	भवति	१२१	१
तन्निन्दामि	तां निन्दामि	१२१	४
तच्च	तान्च	१२१	४
सर्व	सर्वे	१२५	१
०ल्लूल्लूरणु	०ल्लुल्लूरणु	१४६	५
जिट्ट सुजिट्ट	जिट्ठ सुजिट्ठ	१५३	४
हाइ	होइ	१६६	२
वरकारणो	वरकाणो	१७०	८
पोषध प्रतिमा	पोषधप्रतिमा	१७४	२
०प्याहराम्	०प्याहारम्	१७५	१
भवइ	भवइ	१७७	२
पुरिमड्ढ	पुरिमड्ढ	१७७	२
०विवरन	०विवर्तेन	१८०	१
पच्चक्खस्व	पच्चक्खाइ	१८३	५